शीला भाटिया

को

जिनकी ओजस्वी कविताओं में काश्मीरी
जन-जीवन का संघर्ष और भविष्य की
आकांक्षाएं प्रतिबिम्बित और
मुखरित हुई हैं।



प्रथम संस्करण
१९५०
मूल्य पाँच रुपया



सूची



ऐतिहासिक सूचनाएं



काश्मीर एक अत्यन्त प्राचीन देश है। प्रकृति ने काश्मीर की घाटी को न केवल एक विशेष भौगोलिक स्थिति प्रदान की है, बल्कि उसके ऐतिहासिक विकास को भी एक विशेष व्यक्तित्व दिया है। भारत के अन्य प्रदेशों की तरह काश्मीर का नाम इतिहास-काल में बदलता नहीं आया। कम-से-कम तेईस सौ वर्ष पुराने विवरणों में 'काश्मीर' नाम का ही प्रयोग हुआ है। और इसमें सन्देह नहीं कि उसके पूर्व भी बहुत पहले से इसी नाम का प्रयोग होता आया होगा। अधिक-से-अधिक संस्कृत के 'कस्मीर' से बदलकर यह नाम फ़ारसी का 'कश्मीर' और हिन्दी का 'काश्मीर' हो गया है। घाटी में इसे स्थानीय प्रयोग में 'कशीर' पुकारते हैं, जोकि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से संस्कृत के 'कस्मीर' से निकला है। भाषाविदों के अनुसार पूर्ववर्ती ऊष्म के सारूप्य और अन्तिम स्वर के क्रमशः पतन के साथ संस्कृत की बोलियों में मध्य का म, व के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसलिए 'कशीर' के पहले प्राकृत में कभी 'कस्मीर' को 'कस्वीर' भी बोला जाता होगा, जिसे टोलमी ने 'कस्पीर' या 'कस्पीरिया' के रूप में लिखा है।

नाम

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'कस्मीर' शब्द की व्युत्पत्ति का कोई अनुमान करना असंभव है। फिर भी इस बारे में अनेक अनुमान किये गए हैं। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि काश्मीरी पंडितों की प्राचीन पुस्तकों में ऐसे निरर्थक अनुमान नहीं किये गए।

मुग़ल सम्राट् बाबर ने ही सबसे पहले ऐसे भ्रामक अनुमानों की शृंखला का सूत्रपात किया। उसने कहा कि यह नाम काश्मीर के निकटवर्ती प्रदेश में रहने वाली 'कास' जाति से निकला है। उसका तात्पर्य काश्मीर की दक्षिण-पश्चिम सीमा

गए हैं, अभी तक सुरक्षित हैं।

इन स्थानीय वृत्तान्तों का उल्लेख करने के पूर्व यह उचित होगा कि काश्मीर-सम्बन्धी उन सूचनाओं और विज्ञप्तियों का संक्षेप में ज़िक्र कर दिया जाय जो प्राचीन काल में भारतीय और इतर भारतीय विद्वानों द्वारा लिखे गए विवरणों और यात्रा-वर्णनों में मिलते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों की सूचनाएं

सिकन्दर के आक्रमण (३२७ ई० पू०) के जो विवरण मिलते हैं उनमें काश्मीर का कहीं भी उल्लेख नहीं है। दक्षिण-पश्चिम के पड़ोसी प्रदेशों का ज़िक्र अवश्य आया है जैसे 'अर्सेकीज़' और 'अबिसारीज' , जो वास्तव में 'उरशा' और 'अभिसार' के ही रूपान्तर हैं।

टोलमी (दूसरी शताब्दी का ज्योतिषी) ने ही सबसे पहले अपने भारतवर्ष के भूगोल में काश्मीर का 'कस्पीरिया' के रूप में उल्लेख किया है।

सेमॉस के एक अज्ञातकालीन कवि डायोनीसियास की एक खोयी हुई कविता 'बस्सारिका' में भी 'कस्पीरोई' नाम की एक जाति का ज़िक्र है जिसके सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि भारत की जातियों में यह सबसे अधिक क्षिप्रचरण है।

वैसे तो इतिहास में बहुत पहले से काश्मीर का उल्लेख हुआ समझना चाहिए, यदि प्रथम इतिहासकार हिरोडोटस (४५० ई० पू०) के 'कस्पेटिरोस' को काश्मीर का रूपान्तर मान लिया जाय। उसने लिखा है कि कोरियंडा के स्कायीलेक्स को डेरियस ने सिंध नदी के मार्ग की छानबीन के लिए भेजा था। वह 'कस्पेटिरोस' के नगर में जाकर उतरा। यह नगर उत्तर-भारत में स्थित था, संभवतः 'बक्तरिया' प्रदेश के पास। हिरोडोटस इस नगर को 'पक्तियन' देश में स्थित बताता है।

इसके भी पूर्व हिकेटयस (५४६-४८६ ई० पू०) ने भी 'कस्पेटिरोस' का उल्लेख किया है, और बताया है कि यह नगर उस स्थान पर स्थित है जहां सिंध नदी नाव खेने योग्य हो जाती है। अर्थात् प्राचीन गांधार और वर्तमान पेशावर का ज़िला। अतएव, हिकेटयस और हिरोडोटस की सूचनाओं को इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि उन्हें काश्मीर की स्थिति का सही ज्ञान था।

प्राचीन यूरोपीय साहित्य में, इस प्रकार, काश्मीर के नाम के अतिरिक्त इस देश के बारे में और कुछ नहीं मिलता। परन्तु चीनी विवरण इसके ठीक विपरीत हैं।

चीनी सूचनाएं

चीनी यात्री बहुधा काश्मीर के मार्ग से आते थे और यहां आकर विश्राम करने के लिए लम्बे काल के लिए रुक जाते थे। सन् ५४१ ई० में भारत से जो राजदूत सबसे पहले चीन गया

था, उसने किंचित् विस्तार से काश्मीर का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि उत्तर-भारत में स्थित काश्मीर देश 'एक क़ीमती हीरे की तरह चारों दिशाओं से हिमाच्छादित पर्वतों से घिरा हुआ है।' अन्य चीनी विवरणों में भी यही बात दुहराई गई है।

ह्यूनसांग

इसके ६० वर्ष बाद सन् ६३१ ई० में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग भारत आया। वह 'उरशा' (वर्तमान हज़ारा जिला) से वितस्ता (झेलम) की घाटी के मार्ग से काश्मीर आया। उसने लिखा है कि 'पर्वतों को पार करके और गहरी घाटियों के किनारे-किनारे चलकर' वह एक 'पत्थर के द्वार' पर पहुंचा जो 'इस राज्य का पश्चिमी द्वार है।' वराहमूल (बारामूला) होता हुआ जब वह श्रीनगर पहुँचा तो काश्मीर के राजा दुर्लभभद्र ने नगर से बाहर निकलकर उसका स्वागत किया और उसे अपने राज-प्रासाद में दावत दी। इसके बाद उसने ह्यूनसांग को शास्त्रों और सूत्रों की नक़ल करने के लिए बीस लिखने वाले दिये और राज्य की ओर से इस चीनी यात्री की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने का आदेश देकर पाँच व्यक्ति उसका सत्कार करने के लिए स्थायी रूप से नियुक्त कर दिये। ह्यूनसांग यहां 'जयेन्द्र विहार' में पूरे दो वर्षों तक शास्त्रों और सूत्रों का अध्ययन करता रहा।

ह्यूनसांग ने लिखा है कि घाटी के चारों ओर दुर्गम पर्वत-शृंखलाओं के होने के कारण आस-पड़ौस के राज्य इसको 'कभी परास्त करने में सफल नहीं हुए।' यहां की कठोर सरदी और बरफ़ का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि फिर भी भूमि उपजाऊ है, और फल-फूलों की बहुतायत है। केसर, घोड़े और औषधि-बूटियां भी बहुत होती हैं। लोग ऊनी सर्ज और रुई के कपड़े पहनते हैं। राजधानी के पश्चिम में एक नदी बहती है। राजधानी १२-१३ ली (२$\frac{1}{2}$ मील) लम्बी और ४-५ ली (लगभग १ मील) चौड़ी नगरी है।

काश्मीर के पंडितों की विद्वत्ता से ह्यूनसांग बहुत प्रभावित हुआ और उसने उनकी खूब प्रशंसा भी की है ऐसे विद्वान् पंडित अन्यत्र नहीं मिलते। उसने लिखा है कि 'शताब्दियों से इस राज्य में पांडित्य और विद्या का सम्मान होता आया है।' और 'यहां के लोग विद्याप्रेमी हैं और उनका धर्म ऐसा है जिसमें स्वधर्म-निष्ठा (बौद्धधर्म के प्रति) भी है और अन्य धर्मों के प्रति भी निष्ठा है।'

कहते हैं कि सम्राट् अशोक के समय में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए अर्हत मध्यांतिक काश्मीर आया था। उसके साथ पांच सौ अर्हत (भिक्षु) और आये थे। गांधार के शाक्य सम्राट् कनिष्क ने काश्मीर में बौद्धों की चौथी महासभा बुलाई

थी जिसमें बौद्ध धर्म पर तीन पुस्तकें संस्कृत में तैयार की गई। फिर भी ह्यूनसांग का कथन है कि उसके समय में काश्मीर में केवल एक सौ के लगभग ही बौद्ध मठ या विहार थे और कोई पांच सहस्र बौद्ध भिक्षु थे। अशोक के बनवाए केवल चार स्तूप थे जिनमें भगवान् बुद्ध के फूल रखे हुए थे। जिन थोड़े-से स्तूपों और विहारों का ह्यूनसांग ने ज़िक्र किया है, उनके सही स्थान का अभी तक पता नहीं चला है। उसके अनुसार उस समय राज्य में बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार नहीं था। आम तौर पर लोग 'विधर्मियों' के मन्दिरों में ही उपासना करने के लिए जाते थे।

ह्यूनसांग ने काश्मीरी लोगों की चारित्रिक विशेषता का वर्णन करते हुए लिखा है कि काश्मीरी 'क्षुद्र और छिछोरे होते हैं। वे दुर्बल और भीरु स्वभाव के हैं। लोगों की आकृति सुन्दर है, परन्तु वे मक्कार हैं।'

किसी समूची जाति के बारे में ऐसी व्यापक उक्ति किसी विद्वान् के लिए संगत नहीं लगती। संभव है कि ह्यूनसांग का अधिकांश ऐसे लोगों से ही पाला पड़ा हो।

दो वर्ष पश्चात् वह दक्षिण-पश्चिम के मार्ग से पर्णोत्स (वर्तमान पुंछ) और राजपुरी (रजौरी) होता हुआ भारत चला गया। उन दिनों इन दोनों स्थानों के राजे काश्मीर के अधीन थे।

तंग-वंश का वृत्तांत

चीन के तंग-वंश के वृत्तांत में भी काश्मीर का उल्लेख हुआ है। उसमें लिखा है कि काश्मीर के राजा चेन-तो-लो-पी-ली अर्थात् 'चन्द्रपीड' ने सन् ७१३ के लगभग, और गद्दी पर बैठने के बाद उसके भाई मू-लो-पी अर्थात् 'मुक्तपीड' या 'ललितादित्य' ने चीन के दरबार में अपने राजदूत भेजे। चीनी सम्राट् ने सन् ७३६-४७ ई० के बीच बाल्तिस्तान पर आक्रमण किया था और ललितादित्य ने इसके बाद ही चीन से दो लाख सैनिकों की मदद मांगने के लिए अपना राजदूत भेजा था। 'महापद्मनाग', (वूलर झील) पर वह चीनी सैनिकों की छावनी बनाना चाहता था। चीन के सम्राट् ने राजदूत को एक शानदार दावत दी और ललितादित्य के लिए राजा की उपाधि घोषित की। इसके अतिरिक्त उसने और कुछ नहीं किया। फिर भी उस समय से काश्मीर के राजे चीन को खिराज देते रहे। इस सम्बन्ध के कारण ही तंग-वंश के वृत्तांत में मो-हो-तो-मो-लौंग अर्थात् 'महापद्मनाग' (वूलर-झील), पोलो-ओउ-लो-पो-लो अर्थात् 'प्रवरपुर' (श्रीनगर) और मी-ना-सी-तो अर्थात् 'वितस्ता' (झेलम) का उल्लेख है।

कुछ दिनों बाद एक और चीनी यात्री ओ-कोंग सन् ७५६ ई० में काश्मीर

आया। यहाँ आकर उसने बौद्ध-भिक्षु बनने की शपथ ली। चार वर्ष तक वह काश्मीर के तीर्थों का भ्रमण और संस्कृत का अध्ययन करता रहा। उसने जिन विहारों और ग्रामों का वर्णन किया है उनमें से कुछ का पता लगता है।

ओ-कोंग

ह्यूनसांग ने तो केवल एक सौ विहारों का ज़िक्र किया था, परन्तु ओ-कोंग ने तीन-सौ से अधिक विहारों और अनेक स्तूपों का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि इस बीच में बौद्ध धर्म का प्रचार काश्मीर में बढ़ गया था।

ओ-कोंग ने तीन मार्गों का भी ज़िक्र किया है। एक तो तिब्बत जाने वाले मार्ग का, जो आजकल ज़ोजी-ला दर्रे से लद्दाख होता हुआ जाता है; दूसरे बाल्तिस्तान जाने वाले मार्ग का, जो आजकल गिलगित की सड़क के रूप में किशन गंगा की घाटी के ऊपरी भाग से सिंध नदी पर स्थित स्कर्दू और अस्तोर को जाता है; और तीसरे उस मार्ग का जिससे ह्यूनसांग आया था। उसने एक चौथे मार्ग का भी ज़िक्र किया है, परन्तु कहा है कि वह हमेशा बन्द रहता है, केवल तभी खोला जाता है जब कोई राजसेना उसे सम्मान प्रदान करने के लिए आती है। संभवतः उसका इशारा पीर पंचाल के मार्ग की ओर था।

इन चीनी विवरणों से ज्ञात होता है कि सातवीं-आठवीं शताब्दी तक 'श्रीनगर' वितस्ता (झेलम) नदी के दाहिने तट पर बसा था। बायें तट की ओर उसका फैलाव कदाचित् दसवीं शताब्दी के लगभग ही हुआ होगा, क्योंकि अल्बिरूनी ने लिखा है कि नगर नदी के दोनों तटों पर बसा है।

अरबी की सूचनाएं

अरब विजेता काश्मीर तक नहीं पहुंचे। यहाँ तक कि अल्मसूदी ने भी, जो स्वयं सिंध घाटी में घूमा था, काश्मीर के बारे में कोई ज्ञातव्य बात नहीं लिखी। अल्क़ज़्वीनी और अल्इद्रीसी की पुस्तकों में भी काश्मीर का उल्लेख नहीं हुआ।

परन्तु सन् १०२१ ई० में महमूद ग़ज़नवी के साथ भारत आने वाले अल्बिरूनी ने काश्मीर के बारे में पर्याप्त लिखा है। अल्बिरूनी कभी काश्मीर में प्रवेश नहीं कर पाया, फिर भी उसने काश्मीर के बारे में प्रामाणिक सूचनाएं एकत्र कर ली थीं। उसके कथनानुसार महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण के आगे हिन्दुओं के शास्त्र और विज्ञान 'काश्मीर, बनारस और अन्य ऐसे ही सुरक्षित स्थानों पर पलायन कर गए जहाँ पर हमारा हाथ नहीं पहुँच सकता।'

अल्बिरूनी

अल्बिरूनी का कहना है कि काश्मीरियों को अपने देश की प्राकृतिक क़िले-

वन्दी की पूरी चेतना है। और जो दर्रे हैं उन पर वे कड़ा पहरा रखते हैं। इसी कारण उनके साथ व्यापारिक संबंध स्थापित करना भी कठिन है। किसी समय वे वाहरी व्यापारियों को, विशेषकर हिन्दुओं और यहूदियों को, अपने देश में आने-जाने देते थे, परन्तु आजकल तो विना पूर्व-परिचय के हिन्दू व्यापारियों को भी नहीं प्रवेश करने देते। अन्य लोगों का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

लोहूर और राजवाड़ी के किलों का उसने विशेष रूप से उल्लेख किया है। उनकी दृढ़ता और अभेद्यता का उसने स्वयं मुआयना किया था। कल्हण की राज-तरंगिनी में इन किलों का नाम लोहरकोट और राजपुरी दिया गया है। आजकल उन्हें लोहरिन और रजौरी कहते हैं। रजौरी पहले पीर पंन्दल (पंचाल) की पहाड़ियों में एक हिन्दू-राज्य था। महमूद ग़ज़नवी ने काश्मीर पर आक्रमण करने का इरादा किया था, परन्तु वह लोहरिन के दुर्ग से आगे नहीं बढ़ सका।

अल्बिरूनी ने काश्मीरियों की पैदल चलने की आदत का ज़िक्र करते हुए लिखा है कि केवल आभिजात्य कुल के लोग ही पालकी में चलते हैं जिसे 'कटि' कहते हैं।

उसके अनुसार चैत्र की द्वितीया को काश्मीरी एक त्यौहार मनाते हैं जिसे 'अग्दुस' पुकारते हैं। यह एक विजय-त्यौहार है, क्योंकि इस दिन राजा मुत्तई ने तुर्कों पर विजय प्राप्त की थी।

रामचन्द्र काक के अनुसार 'अग्दुस' संभवतः काश्मीरी के 'ओक्दोह' का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है चन्द्रमा के किसी पक्ष का प्रथम दिन। फिर अल्बिरूनी ने इसे द्वितीया के दिन क्यों वताया ? काश्मीर के लोग शिवरात्रि का त्यौहार फाल्गुन के कृष्ण-पक्ष की तेरस को मनाते हैं। शिवरात्रि को इसीलिए 'हेरथ' पुकारते हैं। परन्तु फिर भी उस दिन को 'हेर चोदह' कहते हैं जिसका अर्थ चौदस हुआ। इसी प्रकार महानवमी का त्यौहार दो दिन मनाया जाता है। वोलचाल में कहा जाता है, 'महानवम-हंज़-पचम' और 'महानवम-हंज़-चोरम' अर्थात् महानवमी का पांचवां या चौथा दिन। वस्तुतः यह दिन उस चन्द्र-पक्ष का पांचवां या चौथा दिन होता है जिसमें महानवमी का त्यौहार पड़ता है। ऐसे भ्रम उत्पन्न करने वाले अनेक प्रयोग प्रचलित हैं और अल्बिरूनी ने अपने विवरण में संभवतः ऐसे ही प्रचलित प्रयोग का आधार लिया है।

उसने काश्मीर की राजधानी का नाम 'अधिष्ठान' लिखा है, और 'वालर' (वाल्तिस्तान) दरद-प्रदेश 'गिलगित' 'अस्वीर' (हसोर या अस्तोर) और 'शिल्तस' (चिलास) का भी उल्लेख किया है।

चीनी और अरब विद्वानों की अपेक्षा भारतीय विद्वानों के विवरणों में काश्मीर का उल्लेख बहुत कम हुआ है। इसका यह कारण नहीं है कि उन्हें काश्मीर के अस्तित्व का भली प्रकार से ज्ञान नहीं था, बल्कि यह कि उन्होंने अन्य महत्त्वपूर्ण भारतीय केन्द्रों का भी अक्सर बहुत संक्षिप्त ज़िक्र किया है।

भारतीय सूचनाएँ

इसीलिए पाणिनि (६०० ई० पू०) के व्याकरण के गणों में केवल 'कस्मीरियों' के देश 'कस्मीर' का उल्लेख मिलता है और पातंजलि की इस पर टीका है। महाभारत में भी काश्मीर के संबध में स्पष्ट और विस्तृत रूप से कुछ नहीं कहा गया। पुराणों में 'कस्मीरज' की गणना उत्तरी राष्ट्रों में कराई गई है। और वराहमिहिर (५०० ई०) ने अपनी पुस्तक बृहत्संहिता में काश्मीर को उत्तरी-पूर्वी भाग में रखा है।

घाटी के बाहर का प्राचीन संस्कृत-साहित्य काश्मीर के बारे में केवल इतनी ही उपयोगी सूचना देता है कि इस देश को 'कस्मीर' या 'कस्मीरज' कहते थे। 'कस्मीरज' केसर का पर्य्याय भी था। इन पुस्तकों में एक और शब्द 'कुष्ठ' (कुठ) की सूचना मिलती है। 'कुठ' एक बूटी है जो अनेक औषधियों में प्रयुक्त होती है। इन वस्तुओं का उन दिनों भी काश्मीर से निर्यात होता था।

परन्तु काश्मीरी विद्वानों ने अपने देश के बारे में जितने विवरण लिखे हैं, उतने विवरण किसी प्रदेश के बारे में भारतीय साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलते।

काश्मीरी वृत्तान्त

काश्मीरी तीर्थों के बारे में जो सबसे प्राचीन पुस्तक है उसका नाम नीलमत-पुराण है। कल्हण ने भी इस पुस्तक को आधार माना है। प्रो० बुहलर का कथन है कि वर्तमान रूप में नीलमत पुराण छठी या सातवीं शताब्दी से पहले की नहीं है। यद्यपि उसके पाठ में अनेक अशुद्धियाँ और अन्तर आ गए हैं, फिर भी 'माहात्म्यों' की तरह वह एक मनगढ़न्त रचना नहीं है।

नीलमत पुराण

काश्मीर की घाटी का कैसे जन्म हुआ, कैसे जलोद्भव को मारने के बाद वितस्ता की घाटी को निर्गम-मार्ग (निकास) मिला; नीलनाग (काश्मीर के नागों का राजा) ने उपासना और संस्कार आदि के कौनसे नियम प्रतिपादित किये, और काश्मीर के तीर्थ कौन और कहाँ हैं, इन सबका विस्तृत वर्णन नीलमत पुराण में किया गया है।

सबसे पहले उसमें प्रमुख नागों (पवित्र चश्मों) के नाम दिये गए हैं। इसके

बाद महापद्मनाग (वूलर झील), जिसमें चन्द्रपुर का नगर समाया हुआ है, के विषय में एक रोचक उपाख्यान है। इसके पश्चात् काश्मीर के प्रमुख तीर्थों का वर्णन है, विशेषकर शिव की उपासना से संबंध रखने वाले। तदन्तर 'भूतेश्वर माहात्म्य', 'हरमुकुट' (हरमुख) पर्वत की पवित्र झीलों और स्थानों का विशद वर्णन है। 'कपटेश्वर' (कोट्येहर) के बारे में थोड़ा-सा उल्लेख है और विष्णु-तीर्थों का संक्षिप्त वर्णन भी है।

हरचरित चिन्तामणि

अनुमान किया जाता है कि कवि जयद्रथ की पुस्तक 'हरचरित चिन्तामणि' भी नीलमत के काल की है। परन्तु जयद्रथ के भाई जयरथ ने शैव-मत की टीका करते हुए 'तंत्रालोक' नाम की जो पुस्तक लिखी है और उसमें अपने वंश की जो तालिका दी है उससे तो यही सिद्ध होता है कि जयद्रथ बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में या तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रहा होगा। इस प्रकार इस पुस्तक को राजतरंगिनी के बाद की समझना चाहिए।

'हरचरित चिन्तामणि' काव्य-शैली में लिखी गई है। उसके बत्तीस सर्गों में वे सारे उपाख्यान वर्णित हैं जिनका शिव या उनके अवतारों से संबंध है। इनमें से आठ उपाख्यान तो काश्मीर के प्रसिद्ध तीर्थों के बारे में हैं। इस पुस्तक से यह पता चलता है कि कल्हण के बाद, प्रमुख तीर्थों के बारे में जो उपाख्यान थे, कालान्तर में बदलकर उनका क्या रूप हो गया था। नीलमत और हरचरित चिन्तामणि अत्यन्त उपयोगी पुस्तकें हैं और 'माहात्म्यों' के ढकोसले का आवरण हटाने में सहायक सिद्ध होती हैं।

माहात्म्य

'माहात्म्यों' के संबंध में कहा जाता है कि वे पुराणों में से संकलित किये गए हैं। प्रत्येक तीर्थस्थान का एक माहात्म्य है, जिसमें यात्रियों की जानकारी के लिए तत्संबंधी समस्त उपाख्यान वर्णित होते हैं। और उस तीर्थ की यात्रा करने से यात्री को कौनसे लौकिक और पारलौकिक लाभ प्राप्त होंगे, तथा यात्रियों को कौनसी धार्मिक प्रक्रियाएं करनी पड़ेंगी आदि का सविस्तार वर्णन है। सर ऑरेल स्टाइन ने व्यक्तिगत अनुभव से लिखा है कि जब कोई नया तीर्थ या धर्म-स्थान बनता है तो वहाँ के अनपढ़ थानपत (स्थानपति या पुजारी) उल्टी-सीधी भाषा में उसका एक माहात्म्य गढ़ लेते हैं। कुछ माहात्म्य पुराने भी हैं परन्तु उनमें भी समयानुसार परिवर्तन होते आये हैं और उनकी भी सत्रहवीं शताब्दी से पहले की पाण्डुलिपि प्राप्य नहीं है। इसलिए काश्मीर के प्राचीन इतिहास या संस्कृति के विषय में इन माहात्म्यों से कोई प्रामाणिक सूचना नहीं प्राप्त होती।

कल्हण की राजतरंगिनी काश्मीर का सबसे प्राचीन, महत्वपूर्ण और प्रामाणिक इतिहास है। कल्हण के पहले भी काश्मीर में इतिहासकार हुए थे जिनका आधार कल्हण ने लिया होगा। इनमें से आठवीं शताब्दी के 'हेलराज', राजा अवन्ती वर्मन (८५५-८८३ ई०) के समकालीन 'रत्नाकर' और राजा कलश (१०६३-१०८६ ई०) के समकालीन 'क्षेमेन्द्र' के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु कल्हण की 'राजतरंगिनी' के आगे इन इतिहासकारों की पुस्तकों का प्रचलन कम होता गया और अब तो उनमें से अधिकांश अप्राप्य हैं।

कल्हण

कल्हण के पिता चम्पक पंडित काश्मीर के राजा हर्ष (१०८६-११०१ई०) के मंत्री थे। हर्ष की हत्या के बाद संभवतः पिता-पुत्र दोनों ने ही फिर नौकरी नहीं की। दुर्भाग्य से कल्हण ने अपने जीवन-चरित के बारे में कोई विवरण नहीं छोड़ा है। केवल राजतरंगिनी के आधार पर कुछ अनुमान किये जा सकते हैं कि वह अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी, विनोदप्रिय, कल्पनाशील और मानव-स्वभाव का पारखी व्यक्ति था। चारण-भाटों की तरह अपने समकालीन राजाओं की प्रशंसा के पुल बांधने की प्रवृत्ति उसमें नहीं थी। इस दिशा में वह अत्यन्त स्वतंत्र और निर्भीक व्यक्ति मालूम पड़ता है। चाटुकारी उसमें छू तक नहीं गई थी। इसी कारण उसने अपने समकालीन राजाओं के अच्छे कामों की प्रशंसा की है तो उनके निरंकुश कार्यों की बुराई भी की है। यद्यपि वह स्वयं एक शैव परिवार में जन्मा था, परन्तु अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति समान रूप से ही उदार और सहिष्णु भी था। उसे अपने देश से अगाध प्रेम था, इसका अनुमान उन श्लोकों से लगता है जिनमें उसने काश्मीर का गुण कीर्तन किया है। काश्मीर की प्राकृतिक और आर्थिक स्थिति का उसे समुचित ज्ञान था। और जिस स्थान का भी उसने वर्णन किया है वह पूरी खोज करके और प्राचीन विध्वंस इमारतों और मुद्राओं के प्रमाणों का उपयोग करके। यही कारण है कि मध्यकालीन इतिहासकारों की रचनाओं में राजतरंगिनी का स्थान बहुत ऊंचा है।

राजतरंगिनी की रचना सन् (११४८-४९ ई०) में हुई। यह पुस्तक आठ तरंगों में विभक्त है। पहली तीन तरंगों में तो केवल संदिग्ध ऐतिहासिक अस्तित्व के राजाओं की वंशावली की गणना कराई गई है। और बीच-बीच में जिन घटनाओं का उल्लेख है वे पौराणिक उपाख्यानों की कोटि की हैं और ऐतिहासिक मूल्य नहीं रखतीं। परन्तु 'कारकूट' वंश तक पहुँचते-पहुँचते कल्हण के विवरण में निश्चित ऐतिहासिक आधार दृष्टिगोचर होने लगता है। और अवन्तीवर्मन के राज्य-काल (८५५-८८३ ई०) से, जिससे पाँचवीं तरंग का प्रारंभ होता है, राजतरंगिनी का विवरण सही और प्रामा-

राजतरंगिनी

गिक है। बल्कि लेखक जितना अपने वर्तमान काल की ओर अग्रसर होता जाता है, उसका विवरण उत्तरोत्तर उतना ही विशद और विस्तारपूर्ण होता जाता है।

पहली चार पुस्तकों की अनैतिहासिकता से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि कल्हण में प्राचीन इतिहास को आलोचक दृष्टि से देखने का वैज्ञानिक संस्कार नहीं था। प्राचीन लोक-परंपरा में कितना भाग पौराणिक है और कितना वास्तविक, इसका विवेचन करने की उसमें क्षमता नहीं थी। संभवतः उसके पास पर्याप्त मात्रा में पिछले तीन हजार वर्षों का इतिहास लिखने के लिए प्रामाणिक सामग्री भी नहीं रही होगी। फिर भी उसके विवरण की पहली चार पुस्तकों का इतना महत्व अवश्य है कि उनमें 'अशोक' और 'कनिष्क' जैसे ऐतिहासिक सम्राटों का उल्लेख है।

सम्पूर्ण राजतरंगिनी में लगभग आठ सहस्र श्लोक हैं। परन्तु इनमें से आधे से ज्यादा श्लोकों में कल्हण ने अपने पूर्ववर्ती एक सौ पचास वर्षों की घटनाओं का ही वर्णन किया है। यही कारण है कि सातवीं और आठवीं तरंगें इतनी बड़ी हैं।

काश्मीर के सांस्कृतिक भूगोल की दृष्टि से भी राजतरंगिनी का मूल्य अत्याधिक है। इस संबंध की सूचनाओं को सर ऑरेल स्टाइन ने तीन भागों में बाँटा है।

१. प्रारंभ से ही काश्मीर में पवित्र स्थानों की पूजा का सबसे ज्यादा महत्व रहा है। अतः पहली सूचनाएं इन पवित्र स्थानों से संबंध रखती हैं। कल्हण ने राजतरंगिनी की भूमिका में लिखा है कि काश्मीर एक ऐसा देश है 'जहाँ सरसों के दाने के बराबर भी ऐसी रिक्त भूमि नहीं है जहाँ पर कोई तीर्थ न हो।' वास्तव में आज भी इन स्थानों की संख्या अनगिनत है और विलक्षण बात यह है की इस्लाम अपना लेने के बाद भी इस दिशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके विपरीत शायद ही कोई ऐसा गाँव या चश्मा है जहाँ का चश्मा या कुंज हिन्दुओं के लिए पुनीत स्थान हो और जहाँ मुसलमानों की 'ज़ियारत' न हो।

यह उल्लेखनीय है कि ऐसे प्राचीन पवित्र स्थानों में अधिकतर चश्मे हैं, जिन्हें काश्मीरी में 'नाग' कहते हैं; या निर्झर, नाले और नदियाँ हैं। ये स्वयंभू देवता हैं, जिन्हें भक्तों की दृष्टि प्राकृतिक स्थानों में सहज ही ढूँढ निकालती है। ये तीर्थ हिन्दू-वर्ग के हैं और उन्हीं स्थानों पर मिलते हैं जहाँ पर हिन्दूमत का प्रचार है या रहा है। विशेषकर नेपाल, कुमायूँ, काँगड़ा, उदयन और स्वात् आदि प्रदेशों में ऐसे तीर्थों की बहुतायत है।

इस वर्ग के तीर्थों की विशेषता यह है कि प्रत्येक चश्मे या निर्झर का

सरक्षक-देवता एक नाग होता है। राजतरंगिनी में 'पाप सूदन' 'त्रिसंध्या', वेद पहाड़ी पर स्थित 'सरस्वती झील' आदि चश्मों और झीलों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है जिससे यह परिणाम निकलना सहज है कि कल्हण के समय में इन तीर्थों का विशेष महत्व था।

२. राजतरंगिनी में दूसरे प्रकार की सूचनाएँ ग्रामों, नगरों, राज्यों, मंदिरो-मठों, विहारों और भवनों के निर्माण करने या बसाने के संबंध में हैं।

प्राचीन काल में जब कोई नया नगर बसाया जाता था तो उसका नाम-करण बसाने वाले के नाम के आगे 'पुर' लगाकर किया जाता था। यथा, हुष्कपुर, कनिष्कपुर, जुष्कपुर (भारतीय-शाक्यवशी संस्थापक) या प्रवरपुर (प्रवरसेनपुर, श्रीनगर का प्राचीन नाम) पद्मपुर, जयपुर, जयपीड़पुर आदि। मुसलमान, सिख और डोगरा राज्यों के काल में भी 'पुर' लगाकर नगरों और ग्रामों का नामकरण करने की प्रथा जारी रही। जैसे, जैनपुर, शहाबुद्दीनपुर, (शादीपुर) मुहम्मदपुर और रनबीरपुर आदि।

इसी प्रकार मंदिर, मठ, विहार और दूसरी धार्मिक इमारतों के नाम भी उनके संस्थापक के नाम के आगे उनके देवता या धार्मिक उद्देश्य का संक्षिप्त परिचय जोड़कर रखे जाते थे। इस प्रकार शिव मंदिरों के नाम में संस्थापक के नाम के आगे 'ईश' या 'ईश्वर' जोड़ा जाता था, जैसे 'प्रवरेश्वर', 'अमृतेश्वर' आदि। इनमें प्रवर और अमृत सस्थापकों के नाम हुए। विष्णु-मंदिरों के नाम में 'स्वामी' या 'केशव' जोड़ा जाता था, जैसे 'मुक्त स्वामी' 'अवन्ति स्वामी' 'भीम केशव' आदि। इनमें मुक्त (-पीड) अवन्ति (-वर्मन) और भीम (-पाल साही) स्थापकों के नाम हुए। बौद्ध मठों या विहारों के नाम के आगे 'विहार', 'भवन' या 'मठ' जोड़ा जाता था, जैसे 'जयेन्द्र विहार', 'चकुण विहार', 'अमृतभवन' (आंतबवन), 'स्कन्द भवन', 'दिद्दामठ' (दिदमर), 'सुभट मठ'. 'लोठिका मठ', 'चक्र मठ' आदि। इनमें जयेन्द्र, चंकुण, अमृत (–प्रभा रानी), स्कन्द, दिद्दा (-रानी) सुभट, नंदा, लोठिका, चक्र आदि स्थापकों के नाम हैं।

कल्हण ने राजतरंगिनी में स्थानों के प्रचलित नाम ही दिये हैं। ये नाम कहाँ तक अपने मूल रूप में हैं या शुद्ध हैं, इसकी पड़ताल करने के पूर्व यह जानना जरूरी है कि उस समय की बोलचाल की भाषा निश्चय ही एक प्रकार की अपभ्रंश थी, जो बाद में विकसित होकर आधुनिक काश्मीरी बन गई है। अतः उस समय और उसके सैकड़ों वर्ष पहले से संस्कृत ही यहाँ की राज-भाषा थी। यहाँ तक कि मुसलमानों के समय में भी कुछ दिनों तक संस्कृत अपने इस पद पर विराजमान रही। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में यहाँ पर स्थानों का नाम संस्कृत में

ही रखा जाता रहा होगा। वस्तुतः इन नामों का संस्कृत-मूल सिद्ध किया जा सकता है।[1] और आजकल काश्मीरी में उनका जो रूप बदल कर हो गया है वह ध्वनि-विकार के स्वाभाविक नियम के अनुसार। इसलिए नामों की अनार्य व्युत्पत्ति की खोज करना कि कहीं उन्हें बाद में संस्कृत का लिबास न पहना दिया गया हो, व्यर्थ है। जहाँ तक कल्हण का संबंध है उसने एक-दो स्थानों पर ही इस तरह की प्रवृत्ति दिखाई है और प्रचलित नामों को संस्कृत के ढाँचे में ढाल कर उपस्थित किया है। उदाहरण के लिए 'कादम्बरी कथासार' के लेखक अभिनन्द ने जिस गाँव का नाम 'गोरमूलक' दिया है, उसे कल्हण ने 'घोरमूलक' कर दिया है। अन्यथा अधिकतर उसने पहाड़ों, नदियों, झरनों और दर्रों आदि के शुद्ध प्रचलित नाम दिये हैं, और उनके संस्कृत उच्चारण पर ज़ोर नहीं दिया है।

३. कल्हण की राजतरंगिनी में काश्मीर के प्राचीन सांस्कृतिक भूगोल की दृष्टि से जितनी उपयोगी और प्रामाणिक सूचनाएँ हैं, उतनी ही उपयोगी सूचनाएँ उसमें यहाँ की जलवायु, आर्थिक परिस्थिति, विभिन्न मानव-जातियों की प्रादेशिक स्थिति, और राजनीतिक इतिहास के संबंध में हैं। वितस्ता (झेलम) के मार्ग को नियंत्रित करने के लिए जो प्रयत्न किये गए, उनका भी उसमें सविस्तार वर्णन है। इससे यह पता लगाने में सुविधा हुई है कि नियन्त्रण के पहले और बाद में वितस्ता और सिंध (गंगा) के संगम-स्थान में कितना परिवर्तन हुआ है।

अन्य विवरण

कल्हण के बाद लगभग तीन सौ वर्षों तक देश में अराजकता फैली रही। अन्तिम हिन्दू-राजाओं और प्रारंभ के मुसलमान सुलतानों के शासन कुव्यवस्था, निरंकुशता और राजनीतिक षड्यंत्रों के कारण अशान्तिपूर्ण बने रहे जिससे विद्याध्ययन और पाण्डित्य का ह्रास हो गया, साहित्य और इतिहास-रचना की प्रवृत्ति दब गई और ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा की गई। परन्तु इस तीन सौ वर्षों के आध्यात्मिक शून्य और मरुथल के बाद एक उर्वर मरीचिका के दर्शन हुए, सुलतान जैनुल्आब्दीन (१४२१-

---

1. आज भी पर्वतों या स्थानों के काश्मीरी नामों से उनका संस्कृत मूल प्रकट होता है। जैसे ग्रामों के नाम के आगे पूर या पोर (पुर), हौम (आश्रम), कोठ (कोट) गाम या गोम (ग्राम), कुण्डेल (कुण्डल), वोर (वाट) आदि; झीलों और दलदलों के नाम के आगे सर (सरस), नडवल (नडचला), नाग (नाग) आदि; उच्च पर्वतीय स्थानों, शिखरों और दर्रों के नाम के साथ वन् (वन), नोर (नाड़), मर्ग (मठिका), गुल (गलिका), बोर (भट्टारिका), वथ (पथ) आदि; और झरनों और नहरों के नाम के आगे क्ल (कुल्या), खन (खनि) आदि जो शब्द लगाए जाते हैं वे संस्कृत शब्दों के ही रूपान्तर हैं।

(१४७२ई०) के राज्य-काल में। सुख और शान्ति के वातावरण में ज्ञान-विज्ञान को पनपने का मौका मिला और काश्मीर की विद्वत्ता पुनः चमक उठी। ऐतिहासिक विवरण लिखे गए। पंडित जोनराज ने, जो सुलतान का राज-इतिहासकार था, अपनी 'राजतरंगिनी' में कल्हण के परवर्ती तीन सौ वर्षों का संक्षिप्त और चलता हुआ विवरण देकर सुलतान जैनुल्आब्दीन के शासन-काल का विस्तृत वर्णन किया है। जोनराज के शिष्य श्रीवर ने अपनी पुस्तक 'जैन-राजतरंगिनी' में सन् १४५६ से १४८६ ई० तक की घटनाओं का विवरण दिया है। इसका भी अधिकांश भाग सुलतान जैनुल्आब्दीन के राज्य-काल की घटनाओं से ही भरा हुआ है। इसके पश्चात् प्राज्यभट्ट ने एक शताब्दी बाद 'राजावलि पताका' नाम से जिस वृत्तान्त का प्रारंभ किया था उसे उसके शिष्य 'सुक' ने १५८६ ई० में समाप्त किया। इस पुस्तक में अकबर की काश्मीर-विजय तक का विवरण है। ये तीनों पुस्तकें हिन्दू-काल के बाद की हैं जो सन् १३३६ ई० में शाहमीर द्वारा गद्दी छीन लेने के साथ समाप्त हो चुका था।

यद्यपि अकबर ने संस्कृत-साहित्य को पूरा प्रोत्साहन दिया, परन्तु 'राजावलि पताका' के बाद संस्कृत में काश्मीर का और कोई इतिहास नहीं लिखा गया।

कल्हण के बाद के इन संस्कृत इतिहासकारों के बारे में विद्वानों का मत है कि उनमें से किसी में भी न कल्हण जैसी प्रतिभा थी और न मौलिकता ही। जोनराज वैसे प्रकाण्ड विद्वान था, परन्तु उसमें मौलिकता का अभाव था और श्रीवर ने तो एकदम कल्हण की नकल करने की चेष्टा की है। प्राज्यभट्ट और सुक की रचनाएँ तो और भी निम्नकोटि की हैं। उन्हें, लगता है कि, काश्मीर के प्राचीन भूगोल का भी पर्याप्त ज्ञान नहीं था।

कवियों की सूचनाएँ

काश्मीर के प्राचीन संस्कृत कवियों की रचनाओं में भी काश्मीर के सांस्कृतिक भूगोल के बारे में कुछ-न-कुछ उपयोगी सूचनाएँ मिलती हैं जिनसे कल्हण के विवरण की पुष्टि होती है।

इन कवियों में सबसे महत्वपूर्ण नाम क्षेमेन्द्र का है, जिसके 'रामायण-मंजरी', 'भारत-मंजरी', 'दशावतारचरित', 'समय-मातृका', 'जातकमाला', कवि-कंठाभरण', चतुर्वर्गसंग्रह' आदि अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों का संस्कृत-साहित्य में

क्षेमेन्द्र

ऊँचा स्थान है। उसकी पुस्तकें ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय और तृतीय चतुर्थांश में लिखी गई थीं। उसकी पुस्तक 'समय-मातृका' जो एक मौलिक काव्य है और जिसमें क्षेमेन्द्र ने अपने समय के जीवन की अभिव्यंजना करते हुए सभासदों के कपट-जालों का रहस्योद्घाटन किया है, काश्मीर के सांस्कृतिक भूगोल की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उसमें उसने

अपनी प्रधान नायिका केकाली के काश्मीर की समूची घाटी में पर्यटन का विशद वर्णन किया है। इस वर्णन के द्वारा पाठक घाटी के विभिन्न स्थानों की जानकारी प्राप्त कर सकता है, और कवि ने इन स्थानों की स्थानीय विशेषता का चित्रण करके अपने वर्णन को अत्यन्त रोचक बना दिया है। क्षेमेन्द्र की कविता में ही सबसे पहले पीर पंचाल दर्रे (पंचाल धारा) का और उस पर स्थित 'मठ' का उल्लेख मिलता है, और इस बात का पता चलता है कि घाटी में नमक का आयात तब उसी मार्ग से होता था।

कवि बिल्हण (१०६३-८९ ई०) छोटी उम्र में ही काश्मीर से बाहर चला गया था और बाद में दक्षिण के चालुक्य राजा त्रिभुवन मल्ल परमाड़ी के राज-कवि के रूप में विख्यात हुआ। उसकी ऐतिहासिक काव्य-पुस्तक 'विक्रमांकदेव चरित' के अन्तिम दो सर्गों में काश्मीर और यहां की राजधानी के सौन्दर्य का वर्णन है। एक और स्थान पर उसने अपने गाँव और उसके आस-पड़ोस का वर्णन किया है। उसने अपने गाँव का नाम खुनमुश (क्षणमोक्ष) दिया है। आज भी यह गाँव खोन मोह के 'रख' (सुरक्षित शिकारगाह) के नाम से श्रीनगर के दक्षिण-पूर्व में मौजूद है।

बिल्हण

कल्हण के समकालीन कवि मंख ने भी अपने काव्य 'श्रीकण्ठ-चरित' में काश्मीर और प्रवरपुर (श्रीनगर) का वर्णन किया है।

मंख

क्षेमेन्द्र-लिखित लोक-प्रकाश एक विचित्र पुस्तक है। एक प्रकार से कोष और संचिका है। लोक-प्रकाश में काश्मीर के प्राचीन परगनों की पहली सूची मिलती है। उसमें हुण्डियों, ठेकों, सरकारी विज्ञप्तियों आदि का भी विशद उल्लेख है। काश्मीरी कर्मचारियों को आज भी यह पुस्तक उपयोगी मालूम देती है। इसी कारण अवसर के अनुसार इसमें संशोधन-परिवर्धन होते आए हैं।

मुग़ल काल में और उसके बाद हिन्दू और मुसलमान इतिहासकारों ने अपने समय का और श्रुतिपरंपरा से ज्ञात बीते काल की घटनाओं का विवरण राज-भाषा फ़ारसी में दिया। परन्तु फ़ारसी के इतिहासकार भी कल्हण की महानता को नहीं पहुँचे। हिन्दू-काल के संबंध में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह अत्यन्त लापरवाही से और कल्हण की पुस्तक के ही आधार पर। उन्होंने कोई मौलिक खोज नहीं की।

फ़ारसी की सूचनाएं

फ़ारसी में लिखने वाले काश्मीरी इतिहासकारों में सुलतान ज़ैनुलआब्दीन के राज-इतिहासकार मुल्ला अहमद; जहांगीर के समकालीन चोडुर के हैदरमलिक, पंडित नरायन कौल (१७२१ ई०), अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के पीरज़ादा हसन, बीरबल काछुर (काचरू), प्रकाश राम, पंडित हरगोपाल कौल, मुंशी मुहम्मदुद्दीन

फॉक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन इतिहासों में पीरज़ादा हसन का लिखा इतिहास सबसे ज्यादा प्रामाणिक है और हैदरमलिक का सबसे ज्यादा पक्षपातपूर्ण।

इनके अतिरिक्त विदेशी इतिहासकार हैं जिन्होंने फ़ारसी में काश्मीर के संबंध में लिखा है। ये इतिहासकार या तो काश्मीर आये थे या उन्होंने बाहर बैठकर ही यहां के बारे में पर्याप्त सूचनाएं एकत्र करली थीं। इनमें से काशगर के मिर्ज़ा हैदर ने जिसने १५४० ई० में घाटी पर विजय प्राप्त की और जो १५५१ ई० तक मुग़ल सम्राट हुमायूँ के नाम पर राज्य करता रहा, अपनी 'तारीख़े-रशीदी' में काश्मीर का वर्णन किया है। इतिहासकार फ़िरिश्ता और अकबर के मंत्री अबुलफ़ज़ल की पुस्तकों में भी काश्मीर पर बहुत उपयोगी सामग्री है। विशेषकर अबुलफ़ज़ल ने 'आईने अकबरी' में 'काश्मीर की सरकार' नाम से जो प्रकरण दिया है उसमें यहां की शासन-व्यवस्था का वर्णन है, पैदावार और उद्योगों का विवरण है और यहां के पवित्र स्थानों और परगनों का उल्लेख है। मालगुज़ारी कितनी थी, कितनी दीनारों के रूप में और कितनी नाज के रूप में वसूल की जाती थी, और किस परगने में कौन-कौन सी जातियां बसती थीं, आदि का भी उसने ब्यौरा दिया है।

यूरोपीय यात्रियों की सूचनाएँ

यूरोपीय यात्रियों में से सबसे पहला विवरण फ्रान्सीसी चिकित्सक बर्नियर का है जो १६६४ ई० में सम्राट् औरंगज़ेब के साथ श्रीनगर आया था। वह औरंग-ज़ेब-कालीन श्रीनगर और यहाँ की अद्भुत वस्तुओं आदि का अत्यन्त उपयोगी वर्णन छोड़ गया है। पठानों के राज्य-काल में यहाँ की जनता पर जो अत्याचार और उत्पीड़न हुआ उसका वर्णन फोरस्टर के विवरण में मिलता है। सिख-कालीन काश्मीर के लिए मूरक्रॉफ्ट, वेन, ह्यूगल, होरिंगबर्जर और जेकमान के विवरण और प्रारंभिक डोगरा-काल के लिए फ्रेडरिक ड्रू के विवरण प्रामाणिक समझने चाहिएं।

इन सूचनाओं की विशद् सूची को पढ़कर पाठक अनुमान कर सकते है कि काश्मीर की उपत्यका का गौरव बहुत प्राचीन है और उसकी प्राचीनकाल से लेकर आज तक की संस्कृति में एक तारतम्य और एक-सूत्रता है जिसका खंडन कहीं नहीं हुआ—कम-से-कम उस रूप में नहीं जिस रूप में उत्तर-भारत के अन्य प्रदेशों के सांस्कृतिक जीवन में होता आया है। इससे काश्मीर की संस्कृति पर प्राचीनता की जितनी गहरी छाप है, उतनी ही वह परिवर्तन-भीरु हो गई है, और राष्ट्रीय जागरण से आज उसमें यदि नव-चेतना की लहरें उठने लगी हैं तो अधिकतर वे बाह्य प्रभावों के कारण ही, जिनके घात-प्रत्याघात उत्तरोत्तर प्रबल होते गए हैं और काश्मीरियों को बरबस आधुनिक बना रहे हैं; और उनमें अपने लिए एक नये जीवन का निर्माण करने की अदम्य भावना जाग्रत हो गई है।

दो



काश्मीर का सांस्कृतिक भूगोल



१. एक विहंगम दृष्टि

भूगोल और संस्कृति

किसी भी देश या जाति की संस्कृति का मूलाधार अन्ततः उसका आर्थिक-जीवन और उत्पादन-प्रणाली द्वारा उत्पन्न वर्ग-संबंध होते हैं। यही कारण है कि विभिन्न देशों की आदि-युग, सामंत-युग या पूंजीवाद-कालीन संस्कृतियों में आन्तरिक समानता है। प्रत्येक उत्पादन-युग की मूल-भूत प्रेरणाएं एक-सी होती हैं। उसका शिल्प और विज्ञान, साहित्य और दर्शन, न्याय और धर्म की परिकल्पनाएं भी सामान्य तत्वों से ही अनुप्राणित होती हैं। फिर भी इस समस्त सामान्यता के बीच प्रत्येक देश और जाति की संस्कृति में अपनी रूप-विशिष्टता, निरालापन और निजत्व होता है। अपने वाह्यरूप में यह विभिन्नता कहीं-कहीं इतनी अधिक प्रमुख हो जाती है कि मौलिक और अभूतपूर्व लगने लगती है। इस सांस्कृतिक विभिन्नता का कारण अलग-अलग जातियों और देशों के ऐतिहासिक विकास की असमान परिस्थितियाँ तो होती ही हैं, साथ ही इन अनेक रूपी संस्कृतियों के रूप-विन्यास को एक विशिष्ट वर्ण, आभा और अपनापन देने में भौगोलिक परि-स्थितियों का भी अत्यन्त निर्णयकारी प्रभाव पड़ता है।

काश्मीर की घाटी

काश्मीरी संस्कृति इस नियम का अपवाद नहीं है। विशाल हिमालय-प्रदेश में काश्मीर की उपत्यका की स्थिति अपूर्व है। यह घाटी एक असम अण्डाकार आकार की है, और इसको चारों ओर से घेरने वाली हिम-किरीटधारी पर्वत-मालाएं भी असम अण्डाकार हैं। पंजाब के मैदानों से यह घाटी ५० से ७५ मील की दूरी पर है,

अर्थात् इस बीच में पर्वत-शृंखलाएं हैं। यदि पर्वत-शिखरों से जोड़ें तो इस घाटी की लम्बाई ११६ मील और चौड़ाई ४० से ७५ मील है। अन्यथा घाटी का निचला और अपेक्षाकृत समतल भाग दक्षिण-पूरब से उत्तर-पश्चिम तक ८४ मील लम्बा और २० से २५ मील तक चौड़ा है। इस चौरस भाग का क्षेत्रफल लगभग १८०० या १६०० वर्गमील है। यह भाग अत्यन्त उपजाऊ और इतना विशाल है कि एक स्वतंत्र राष्ट्र और उच्चकोटि की सभ्यता को सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त है। काश्मीर की उपत्यका का धरातल समुद्र से कहीं भी ५ हजार फुट से नीचा नहीं है। इसलिए न यहाँ भारत के अन्य प्रदेशों की तरह तमतमाती गरमी पड़ती है और न अधिक उत्तर के पर्वतीय हिम-प्रदेशों की-सी कड़ाके की सरदी ही पड़ती है।

इस विशाल उपत्यका के चारों ओर अंगूठी की तरह पर्वत-मालाओं का गहन-अटूट घेरा है। दक्षिण-तम स्थान के कुछ भाग को छोड़कर हर दिशा में ये पर्वत १० हजार फुट से ज्यादा ऊंचे हैं। अधिकतर उनकी ऊंचाई १३ हजार फुट से ज्यादा है और कहीं-कहीं पर उनके शिखर १८००० फुट की ऊंचाई तक पहुंचते हैं। इन पर्वत-मालाओं के बीच बिखरे हुए क्षेत्र को भी जोड़ लें तो काश्मीर घाटी का क्षेत्रफल लगभग ६ हजार वर्गमील होता है।

मध्य के मैदान की ओर पहाड़ों के जो ढलाव हैं उनसे होकर सैकड़ों नदियाँ, नाले और झरने वहते हैं और घाटी के भीतर ही कहीं-न-कही जाकर वितस्ता (झेलम) में गिरते हैं। पार्श्व की जिन छोटी-बड़ी उपत्यकाओं में से होकर ये सहायक नदियां वहती हैं, उनसे काश्मीर की कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्रफल काफी वढ़ जाता है। इन घाटियों पर सुन्दर, गहन वनों का आवरण छाया है। और इन वनों के भी ऊपर उच्च-पर्वतीय चारागाह हैं जो चिरस्थायी हिम-शिखरों तक फैले हुए हैं।

काश्मीर को चतुर्दिक से घेरने वाले पर्वतों की महान् शृंखला में केवल एक दरार है। यह विकास घाटी के उत्तर-पश्चिम सीमान्त पर उस स्थान पर है जहाँ से सारी घाटी के पानी को समेट कर वितस्ता वारामूला के निर्गम-मार्ग से सागर से मिलने के लिए वाहर को वह जाती है। वारामूला से आगे लगभग दो सौ मील तक वितस्ता अत्यन्त संकुचित घाटी के वीच से वहती है। यह घाटी प्राचीन काल से काश्मीर के लिए एक प्राकृतिक द्वार का काम देती आई है। प्राचीन काल में इसी मार्ग से काश्मीर की सीमाएं आगे को फैलती थीं। हिन्दू-काल में वारामूला से ५० मील आगे तक काश्मीर की सीमा थी।

काश्मीर की प्राकृतिक सीमाएं भी उसके नाम की ही तरह कभी परिवर्तित नहीं हुईं। ये सीमाएं इतनी उभरी हुई और स्थायी हैं कि प्राचीनतम विवरणों से लेकर आधुनिक विवरणों तक में उनका एक-सा ही वर्णन मिलता है। जो पर्वत-शिखर उसे आज घेरे हैं, वे आदि-काल से उसे ऐसे ही घेरे रहे हैं, उनके वाहर यह देश कभी नहीं फैला।

वस्तुतः काश्मीर की संस्कृति पर सबसे वड़ा प्रभाव इन प्रहरी रूप में खड़े पर्वतों का पड़ा है। काश्मीर की ऐतिहासिक एकता और एकान्तता और उसकी संस्कृति की चारित्रिक-विशेषता का रूप-निर्माण करने में इन पर्वतों ने एक सशक्त और अदृष्ट प्रेरणा का काम किया है।

काश्मीर के निवासी और वाहरी यात्री और दर्शक भी सदैव से ही इन पर्वतों को एक अभेद्य सुरक्षा-पंक्ति के रूप में देखते आये हैं। प्राचीन-काल से ही काश्मीरी इस वात पर गर्व करते आये हैं कि उनके देश पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता। कल्हण ने भी इस भावना को अभिव्यक्ति दी है। वाहरी यात्रियों ने भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। यहाँ तक कि जव काश्मीर पर उत्तर से आये मुसलमानों का आधिपत्य हो गया और यहाँ की अधिकांश जनता ने इस्लाम अपना लिया, तव भी काश्मीर की अजेयता के वारे में प्रचलित यह परंपरागत धारणा ज्यों-की-त्यों दृढ़ वनी रही। तैमूर लंग के साथ पंजावी कोहिस्तान तक आने वाले उसके इतिहासकार शर्फुद्दीन ने 'जफरनामा' (१३६७ ई०) में लिखा कि "यह देश हर दिशा में प्राकृतिक रूप से वनी पर्वतों की ऊंची दीवारों से सुरक्षित है, जिससे उसके निवासी विना दुर्ग और किले वनाये ही दुश्मनों के आक्रमणों के भय से निश्चिन्त होकर रहते हैं।"

वाहर के लोग 'काश्मीर की सीमा' से 'जम्मू और काश्मीर' राज्य के अन्तर्गत आने वाले सारे प्रदेश का अर्थ लगाते हैं, क्योंकि इस राज्य को आजकल 'काश्मीर राज्य' कहकर एक संक्षिप्त नाम से पुकारा जाता है। वास्तव में काश्मीर रियासत में कई देश सम्मिलित हैं, जिनमें से जम्मू, लद्दाख, वाल्तिस्तान, गिलगित, पुंछ आदि प्रमुख हैं। इन प्रदेशों में भिन्न-भिन्न जातियाँ वसती हैं और उनकी भाषाएं, संस्कृतियाँ, रीति-रिवाज, यहाँ तक कि उनके जीविका-उपार्जन के ढंग भी वहुधा भिन्न हैं। चूंकि आजकल ये सारे प्रदेश एक ही राज्य के अन्तर्गत हैं, हम काश्मीर की संस्कृति का परिचय देने के साथ-साथ इन प्रदेशों की भौगोलिक स्थिति और सांस्कृतिक विशेषताओं का भी इस पुस्तक में

काश्मीर राज्य की भौगोलिक सीमाएं

आदि शामिल हैं। इस प्रान्त का क्षेत्रफल ६३५५६ वर्गमील और जनसंख्या ३,११४७८ है।

समूचे काश्मीर राज्य में धरातल इतना असम और भिन्न है कि यहाँ की जलवायु में भी उतनी ही विभिन्नता का होना स्वाभाविक है। इस राज्य में पंजाब की उष्ण-कटिबंध जैसी गरमी से लेकर सुमेरु प्रदेशों की-सी हिमशीत सरदी पड़ती है। तापमान में इतना ज़बर्दस्त वैषम्य होने के कारण ही जहाँ पंजाब से मिले हुए क्षेत्र में लोग अपने शरीर पर कपड़ा रखना सहन नहीं कर पाते, वहाँ हिम-प्रदेशों में लोग भेड़ की चर्म के कपड़े पहनते हैं और वर्ष में सात महीने घरों के अन्दर बन्द पड़े रहते हैं। स्वाभाविक हैं कि भूगोल और जलवायु की इस भीषण विषमता और भिन्नता के कारण काश्मीर राज्य के प्रदेशों की संस्कृति भी अलग-अलग और अपने-अपने ढंग की है।

२. काश्मीर की घाटी

काश्मीर के चारों ओर जो पर्वत-मालाएं है उन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है। पीर पंचाल की पर्वत-शृंखला उनमें से एक है। यह पर्वतमाला काश्मीर की घाटी की दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम सीमा पर स्थित है। बानहाल के दर्रे से, जो इसका सबसे दक्षिणी भाग है, यह पर्वतमाला शुरू होती है। पीर पंचाल पर्वत में बानहाल का दर्रा ही सबसे नीचा स्थान है—९२०० फुट। करीब ३५ मील तक पूरब से पश्चिम को चलकर यह पर्वतमाला उत्तर-उत्तर-पश्चिम की ओर को मुड़ जाती है। इसकी सबसे ऊंची चोटी का नाम ततकुटी है जो १५,५२४ फुट ऊंची है। पंजाब जाने वाले समस्त प्राचीन मार्ग इसी पर्वतमाला पर होकर गुज़रते हैं।

पीर पंचाल पर्वत की शृंखला

उत्तर-चिनाव की घाटी और पूर्वी पंजाब की पहाड़ी रियासतों के लिए बानहाल का मार्ग सदैव सुविधाजनक रहा होगा। इसका नाम दर्रे के पूरब की ओर बसे गाँव 'बाणशाला' से निकला है। स्वयं कल्हण के समय में जब ११३० ई० में दावेदार भिक्षाचर ने चिनाव की घाटी के मार्ग से आकर दक्षिण की 'विषलता' नाम की पहाड़ी पर कब्जा कर लिया था, बाणशाला का दुर्ग एक

बानहाल का दर्रा

फ़ौजी घेरे का दृश्य बना था। यह दुर्ग एक खश राजा के पास था। इससे सिद्ध होता है कि इस दिशा में काश्मीर की सीमा प्राचीन-काल में भी बानहाल दर्रे तक ही थी।

बानहाल से पूरब की ओर तीन शिखर हैं जिन्हें आजकल ब्रमसकल (ब्रह्मशिखर) कहते हैं। ये तीनों चोटियाँ १५ हज़ार फ़ुट से ऊँची हैं। नीलमत पुराण के अनुसार इन्हीं तीन शिखरों पर से ब्रह्मा, विष्णु, महेश ने 'जलोद्भव' से युद्ध किया था। सबसे पश्चिम की ओर सबसे ऊँची चोटी (१५,५२३ फ़ुट) प्रसिद्ध नौबन्धन तीर्थ का स्थान है। नीलमत और भारतीय प्रलयकथा के अनुसार विष्णु ने अपने मत्स्य अवतार के समय अपना जलयान (नौ) इसी शिखर से बाँधा था—दुर्गा ने प्राणि जाति को प्रलय से बचाने के लिए इस शिखर के रूप में अपने को परिवर्तित कर लिया था। इस शिखर के चरण में उत्तर-पश्चिम की ओर दो मील लम्बी एक पहाड़ी झील है जिसका नाम कौंसरनाग (क्रमसरस या क्रमसार) है। यह विष्णु का एक क्रम (चरण-चिन्ह) है नौबन्धन यात्रा का यही वास्तविक स्थान है।

ब्रम सकल

झील से आठ मील पश्चिम में १४ हज़ार फ़ुट ऊँचा सिदउ या बूदिल नाम का दर्रा है। इस दर्रे पर केवल पैदल मार्ग ही संभव है। बूदिल पास के पहाड़ी इलाके का नाम है और सिदउ (सिद्धपथ) काश्मीर की ओर के पहले गाँव का नाम। यहाँ से पर्वतमाला का रुख बदलकर उत्तर-उत्तर-पश्चिम की दिशा में हो जाता है। वहाँ से एक और पर्वतमाला पश्चिम को फूट जाती है जिसे 'रतनपीर' माला कहते हैं।

और आगे रूपी और दरहाल के दर्रे हैं जो दोनों १३ हज़ार फ़ुट से ज्यादा ऊँचाई पर हैं। रजौरी (राजपुरी) जाने का यही मार्ग है। दरहाल दर्रे के पास में नन्दनसर है; संभवतः नीलमतपुराण का नन्दननाग यहीं है।

नन्दनसर से पाँच मील उत्तर की ओर पीर पंचाल का दर्रा है जो ११,४०० फ़ुट की ऊँचाई पर है। मध्य पंजाब को जाने का यह सबसे सुविधाजनक मार्ग है। कल्हण ने अनेक स्थानों पर इस दर्रे का उल्लेख किया है। हुरपोर (प्राचीन शूरपुर, अवन्तीवर्मन के मंत्री शूर ने पंजाब के लिए वाणिज्य-केन्द्र स्थापित करने के लिए बसाया था) के नीचे से बहने वाली रम्बियार

पीर पंचाल का दर्रा

लिए श्रीनगर से यही सबसे सीधा मार्ग था। बाद के काश्मीरी राजा लोहर के राजवश के थे, इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि से इस दर्रे का काफी महत्व है। पुञ्छ की घाटी और इस प्रकार झेलम और सिंध के बीच के पंजाब मे जाने का भी यही सबसे सुविधाजनक मार्ग है। वीरु परगना के द्रंग गॉव से यह मार्ग शुरु होता है। पहले इस स्थान का नाम 'कारकोट द्रंग' था। मार्ग मे काकोदर (कारकोटधर) का धार (गिरि-शृङ्ग) है। 'तीर्थ सग्रह' मे भी इसके निकट एक 'कारकोट नाग' का उल्लेख है। द्रग से चढकर 'तोसे मैदान' पहुचते हैं। तोसे मैदान एक मर्ग या पठार है—ऊ ची-नीची चारागाह। मैदान के उत्तरी भाग मे सडक के किनारे कई मीनारों के भग्न है। यह स्थान बरबल (बर = द्वार) कहलाता है। आगे १३ हजार फुट की ऊ चाई पर दर्रा है। उसके पश्चिम मे दो मार्ग हो जाते है। एक क्राम्बर (शारम्बर) गॉव से गुजर कर गाग्री की घाटी मे उतरता है और दूसरा मार्ग लोहरिन की घाटी मे। पहले मार्ग मे आठ मील आगे गाग्री के नाले पर मडी नाम का बडा गॉव है जिसे कल्हण ने 'अट्टालिका' के नाम से लिखा है। आगे मार्ग पुञ्छ की तोही (तौसी) नदी की खुली घाटी में से गुजरता है।

तोसे मैदान के मार्ग का ऐतिहासिक महत्व इसी से सिद्ध है कि इस मार्ग से दो बार पहले भी काश्मीर पर आक्रमण किया जा चुका है। सबसे पहले सन् १०२१ ई० मे अल्बिरुनी के अनुसार महमूद गजनवी इसी मार्ग से आया था, परन्तु बरफबारी शुरु हो जाने से और लोहर दुर्ग की वीरतापूर्ण रक्षात्मक लडाई के कारण उसका आक्रमण विफल हो गया। इसके बाद सन् १८१४ ई० मे महाराजा रणजीतसिंह ने भी अपना पहला आक्रमण इसी मार्ग से किया था। उसकी फौज को तोसे मैदान मे लौटना पड़ा।

सभव है कि पुञ्छ (पर्णोत्स) जाते समय ह्यूनसांग ने यही मार्ग अपनाया था। बरफ़ पड़ जाने के कारण जाडों मे यह मार्ग बन्द रहता है, अन्यथा यह एक प्रमुख मार्ग है।

तोसे मैदान के आगे १५ हजार फुट ऊ ची कुछ चोटियाँ और हैं, बाद मे पर्वत नीचा होता जाता है। बीच में कई दर्रे हैं जो गुलमर्ग के उच्च पर्वतीय पठार के निकट है। गुलमर्ग के पीछे की चोटी 'सल्लर' से कई शैल-बाहु फूटते हैं जो इस पर्वतमाला की उत्तरी सीमान्त पर हैं और तीव्ररूप मे वितस्ता की घाटी की ओर नीचे होते जाते हैं।

बारामूला से नीचे वितस्ता की सकुचित घाटी दो पर्वत मालाओं के बीच में घिरी है। दक्षिण में गुलमर्ग से आने वाले पीर पचाल का शैल बाहु है, उत्तर

वितस्ता की घाटी, वारामूला से नीचे

में एक पर्वतमाला है जो 'काजनाग शिखर' (१४,४०० फुट) पर आकर समाप्त होती है। इसे काजनाग पर्वतमाला कहते हैं। अस्सी मील तक पश्चिम की दिशा में जहाँ वितस्ता हठात् मुज़फ्फराबाद के निकट दक्षिण की ओर को मुड़ जाती है, ये पर्वतमालाएं नदी के साथ जाती हैं। इन अस्सी मीलों में नदी का धरातल ३ हजार फुट अवनत हो जाता है। पचास मील तक नदी का रूप एक पहाड़ी नाले जैसा है। घाटी अत्यन्त संकुचित और गहरी है। केवल यत्र-तत्र पहाड़ों पर खेती होती है।

प्राचीन काश्मीर की सीमा वारामूला से ५० मील आगे तक थी। यह मार्ग कठिन और दुर्गम रहा होगा। इसी मार्ग में अत्यन्त उपद्रवी 'खश' जाति रहती थी। सिखों को भी इस जाति ने अपार क्षति पहुंचाई जिससे उन्होंने इस मार्ग को सुरक्षित रखने के लिए अनेक किले बनवाये।

वितस्ता की घाटी का मार्ग

उपद्रवी 'खशों' और तीव्र ढाल के दुर्गम पर्वतों के कारण प्राचीन काल में यह मार्ग अत्यन्त कठिन रहा होगा। उरशा (हज़ारा जिला) तक जाने का यह सब से छोटा मार्ग है, इस कारण इसका चलन तो प्राचीन काल से ही था। ह्यूनसांग और ओ-कोंग गांधार और उरशा से इसी मार्ग द्वारा काश्मीर आये थे। अल्बिरूनी को भी इस मार्ग का पता था। पीर पंचाल और तोसे मैदान के मार्गों की अपेक्षा इस मार्ग का व्यापारिक, सैनिक और राजनीतिक महत्व बहुत कम था। वैरन ह्यूजल का कहना है कि काश्मीर में पठानों के आने के बाद (१७५५ ई०) से ही यह मार्ग नियमित रूप से चालू हुआ था, क्योंकि पेशावर जाने के लिए यह सब से छोटा मार्ग था। जब से मोटर-सड़क बन गई है, यह काश्मीर का सबसे महत्वपूर्ण मार्ग बन गया है।

प्राचीन मार्ग वराहमूल-हुष्कपुर (वारामूला-उष्कर) के संयुक्त नगरों से प्रारंभ होता था। प्राचीन काल में हुष्कपुर अधिक महत्व का नगर था, अब वह केवल एक गाँव है।

हुष्कपुर वितस्ता के बायें तट पर था और वराहमूल दाहिने तट पर। नगर की पश्चिमी सीमा पर प्राचीन द्रंग था। ह्यूनसांग इसी प्रस्तर-द्वार से घाटी में प्रविष्ट हुआ होगा।

द्रंग से ढाई मील नीचे नारानथल नाम का गाँव है। यहाँ एक मन्दिर और

चश्मा है---संभवतः नीलमत पुराण का 'नारायण-स्थान' यही है। एक मील आगे 'खादनियार' गाँव है जहाँ से आगे नदी में नाव नहीं चलती। आगे धारगुल के पास नदी पठार को बीच से गहरा काट कर आगे बढ़ती है। कल्हण ने इस स्थान का नाम 'वज्नदर' लिखा है। वितस्ता के तल को नीचा करने के लिए अवन्तीवर्मन के इंजिनियर सुय्य ने इस स्थान तक अपने प्रयत्न किये थे। दो मील आगे जेहनपुर है। जिंगल गाँव में एक प्राचीन मंदिर के खंडहर हैं। परन्तु विवरणों में इन स्थानों का उल्लेख नहीं है। केवल तीन-चार मंजिल पार करने के बाद जब हम पेलिग्रस की पार्श्ववर्ती घाटी के मुहाने पर पहुँचते हैं, तब हमें उसका उल्लेख मिलता है। काश्मीरी इस घाटी को बुलिआस (बोलिआसक) पुकारते हैं। कल्हण के अनुसार जब ६०२ ई० में शंकरवर्मन ने सिंधु नदी की ओर आक्रमण किया था तब उरशा से परास्त होकर लौटते समय उसकी फौज काश्मीर की सीमा के पास बोलिआसक में ठहरी थी। अर्थात् हिन्दू काल में काश्मीर की सीमा वहाँ तक थी। काश्मीर की सीमा के बारे में कल्हण ने दो बार वीरानक (वीरन) गाँव का ज़िक्र किया है जो बोलिआसक के पास है। एक स्थान पर लिखा है कि वीरानक पर द्वारेश (द्रंगपति) ने आक्रमण किया। दूसरे स्थान पर लिखा है कि वीरानक में खश जाति बसती थी और १११ ई० में वराहमूल के पास पराजित होकर राजा सुस्सल ने भागकर वीरानक में शरण ली। प्राचीन सीमा के नीचे की घाटी का नाम द्वारवती (द्वारविदी) लिखा है।

वितस्ता का बायाँ तट

आधुनिक काल में वितस्ता के बायें तट के किनारे रावलपिंडी जाने वाली मोटर सड़क बन गई है। प्राचीन काल में मार्ग इस तट पर नहीं था। परन्तु उरी तक का मार्ग उस समय भी खूब चालू था। उरी से एक मार्ग हाजी पीर दर्रे ८५०० फुट से होकर पुंछ (प्रंत्स या पर्णोत्स) को जाता है। जाड़ों में भी यह दर्रा खुला रहता है। इस कारण पीर पंचाल या तोसे मैदान के दर्रों के बन्द हो जाने के बाद यही मार्ग चालू रहता होगा।

उष्कर (हुष्कपुर) से नीचे जाने पर उस शैल-बाहु को पार करने के बाद जो दक्षिण से वितस्ता के निर्गम-मार्ग को घेरता है, हम दो मील चौड़े उर्वर मैदान में पहुचते हैं। धारगुल थार के सामने सुन्दर चीड़ के वनों के नीचे यह मैदान जिसे नारवाव कहते हैं, स्थित है। यहां शीर और फत्तेगढ़ गांवों में प्राचीन मन्दिरों के अनेक खंडहर हैं। मैदान की पश्चिमी सीमा पर नदी के किनारे किन्सहोम का गांव है जहां 'कृत्याश्रम' नाम का प्राचीन बौद्ध मठ था। कल्हण के अनुसार परंपरा

से विदित है कि अशोक के पुत्र जालुक ने यह मठ स्थापित किया था। क्षेमेन्द्र और ओ-कोंग ने भी इस कृत्याश्रम का उल्लेख किया है।

एक दिन की मंज़िल के बाद बुनिआर आता है जहां एक अत्यन्त प्राचीन मंदिर के अवशेष हैं।

उरी के आगे वितस्ता का बायां तट खख (खश) जाति के अधीन रहता था और दाहिना तट उससे मिलती-जुलती बम्ब जाति के अधीन था।

जो पर्वत काश्मीर को पश्चिमोत्तर और उत्तर की दिशा से घेरे हैं, वे भी एक महान् पर्वतमाला के ही अंग हैं। उनकी शृंखला कहीं नहीं टूटती, दिशा-परिवर्तन अवश्य होता है। इस पर्वतमाला के बीच से जो मार्ग जाते हैं, वे प्राचीन काल में उतने महत्व के नहीं थे। अतः उनके बारे में विवरणों में बहुत संक्षिप्त सूचनाएं हैं।

उत्तरी सीमा के पर्वत

बारामूला के पश्चिमोत्तर में कांजनाग शिखर है। काजनाग से दक्षिण और फिर उत्तर की दिशा में किशन गंगा तक जो पर्वत-शृंग जाता है, उसके संबंध में प्राचीन सूचनाएं सबसे कम हैं। इस पर्वतमाला के जलाश्रय (water shed) 'करनाह' (कर्णाह) तक प्राचीन काश्मीर की पश्चिमी सीमा थी। इस स्थान को प्राचीन शमाला (हमल) और उत्तर (उत्तर) से मार्ग जाते थे।

जहां पर यह पर्वत किशनगंगा के निकटतम पहुँचता है, वहां से वह पूरब की दिशा में मुड़ जाता है और लगभग सौ मील तक उसी दिशा में चलता है। इस लम्बाई में थार की ऊंचाई १२-१३ हजार फुट है। 'उत्तर' और लोलउ (लोलाब) परगनों के उत्तरी भाग से किशनगंगा की दिशा में अनेक मार्ग इस थार पर होकर जाते हैं।

कल्हण के समय में इस प्रदेश के शीराहशीला दुर्ग के विरुद्ध लड़ने के लिए फौज गई थी। यह दुर्ग किशनगंगा के तट पर शारदादेवी के प्राचीन तीर्थ के निकट था। इसके लिए एक मार्ग द्रंग गांव से, दूसरा उससे भी पश्चिम में सीतलवन दर्रे से और तीसरा मार्ग कोरस की घाटी में मधुमती नदी के किनारे से होकर सीधा शारदी (शारदा-तीर्थ) पर जाकर निकलता है। प्राचीन काल में किशनगंगा की घाटी महत्व का स्थान नहीं थी, यद्यपि सोना छानने के लिए लोग वहां आते-जाते रहते होंगे, और सम्भवतः इसी कारण द्रंग का नाम सुन-द्रंग (सुवर्ण-द्रंग) था। शारदी से कनकटोरी (सरस्वती) नदी के किनारे चलकर एक ऊंचे दर्रे को पार करके सिंधु नदी के तट पर बसे चिलास को जाने का मार्ग है।

वम्य और चिलासी जातियों के उपद्रवों के कारण पठान शासकों ने द्रंग और उसके आसपास अफरीदियों को ला बसाया था।

दुग्ध घाट का दर्रा शारदी के ऊपर किशनगंगा एक दुर्गम और निर्जन भाग से बहती है। इसी कारण तीस मील तक पूरब की दिशा में कोई मार्ग नहीं है।

आगे जो मार्ग मिलता है वह महत्वपूर्ण है। यह मार्ग वूलर झील के उत्तरी तट से होकर किशनगंगा के उस भाग को जाता है जिसे गुरेज़ कहते हैं, और सिंधु-तट पर स्थित अस्तोर और बाल्ती प्रदेशों को जाने वाले मार्गों से मिलता है। इसी मार्ग को ब्रिटिश इंजीनियरों ने 'गिलगित ट्रांसपोर्ट रोड' के रूप में सुधार दिया है। यह सड़क त्रागवल या राजदग्रन (१२००० फुट) दर्रे से गुजरती है—परन्तु प्राचीन मार्ग इस स्थान से आठ मील पूरब की दिशा में हटकर था।

कल्हण ने कई स्थानों पर पर्वतीय दुर्ग 'दुग्ध घाट' का उल्लेख किया है—यह दुर्ग दरदों के आक्रमण से घाटी की रक्षा करता था। सर ऑरेल स्टाइन ने दोंदखोंत (दुग्धघाट) दर्रे के पास इस किले का स्थान खोज निकाला है। दुदखुत दर्रे के लिए काश्मीर की ओर से बंडपुर नाले (मधुमती नदी) की घाटी से होकर जाते हैं। आतवुथ गाँव से होते हुए विज्जेमर्ग (प्राजी मठिका) से गुज़रकर इस दर्रे तक पहुंच जाता है। कल्हण के अनुसार दुर्ग का घेरा जब विफल हो गया तब काश्मीरी फौजों ने प्राजी मठिका में आकर मोर्चा बाँधा था। दुग्धघाट दर्रा ११५०० फुट की ऊंचाई पर है।

दोंदखोंत दर्रे से 'किसर' नाम के पर्वत-शृंग से होता हुआ एक सुगम मार्ग सीधे गुरेज़ (जिसे कल्हण ने दरतपुरी के नाम से लिखा है) पहुँचता है।

मुसलमान शासकों के समय में त्रागवल और दोंदखोंत मार्गों की रक्षा के लिए मातृगाम के निकट एक मलिक वंटकोठ में रहता था। यहाँ भी सभवत: एक द्रग था जिसके सबंध में ओ-कोंग ने लिखा है कि पोलिट (बाल्तिस्तान) जाने के लिए एक उत्तरी द्वार था।

दोंदखोंत से पूरब में पर्वत ऊंचे होते जाते हैं और फिर हरमुख (हरमुकुट) के विशाल शिखर (१७ हज़ार फुट) आते हैं। ये चोटियाँ बड़े-बड़े तुषार-नदों (glaciers) से घिरी हुई हैं। काश्मीर की घाटी के अधिकांश भाग से हरमुकुट का दृश्य अत्यन्त प्रभावशाली दृष्टिगोचर होता है। तुषार-नदों के नीचे जो झीलें हैं वे काश्मीरियों की दृष्टि में

हरमुकुट पर्वत

अत्यन्त पवित्र हैं। यह सारा पर्वत ही पवित्र माना जाता है और इस पर अनेक तीर्थ-स्थान हैं। नीलमत पुराण और हरचरितचिन्तामणि में इस पर्वत के बारे में अनेक उपाख्यानों का वर्णन है। शिवजी का यह निवासस्थान माना जाता है। इसी कारण काश्मीरी परम्परा के अनुसार किसी मानव-प्राणी के चरण हरमुकुट की चोटी तक नहीं पहुँच सकते। स्टाइन महोदय जब वहाँ होकर लौटे तो लोगों ने इस बात पर विश्वास नहीं किया।

पूर्वोत्तर के तुषार-नद के नीचे जो झील (१३ हज़ार फुट) है उसे काश्मीर-गंगा (सिंध-गंगा) का उद्गम-स्थान बताते हैं। इसी कारण इसका नाम उत्तरगंगा या गंगबल (नीलमत के अनुसार 'उत्तर मानस') है। भाद्रपद में हरमुकुट-गंगा की यात्रा होती है। यहाँ मृत लोगों के फूल बहाये जाते हैं। गंगबल से नीचे उतरकर एक और झील है—नंदकोल। इसका प्राचीन नाम कालोदक या नंदीसरस है। उपाख्यान के अनुसार यह काल = शिव और उनके नंदी का निवास-स्थान है। इन सारे पर्वत स्थानों का संयुक्त नाम नंदी-क्षेत्र है।

इन झीलों से कानकनई (कनकवाहिनी) की धारा निकलती है। इस धारा की घाटी में बुथिशेर (शिव भूतेश्वर) का पवित्र स्थान है। यहाँ अनेक प्राचीन मन्दिरों के ध्वंसावशेष हैं। पास में ही लगा हुआ 'ज्येष्टेश्वर' का प्राचीन स्थान है।

गंगबल जाते समय यात्री 'भरतगिरि' और ब्रह्मसरस होकर जाते हैं, परन्तु लौटते समय बुथिशेर होकर आते हैं।

गंगबल से एक संकुचित मार्ग 'सतसरन' दर्रे से होकर किशनगंगा घाटी के दरद ज़िले 'तिलेल' को जाता है। संभवतः काश्मीरी राजा हर्ष का विद्रोही भाई विजय मल्ल लार (लहर) से भागकर इस मार्ग से दरद प्रदेश में चला गया था।

पूरब की ओर हरमुख की चोटियाँ काश्मीर-घाटी के सीधे उत्तर में नहीं हैं, बल्कि सिन्धु नदी की घाटी के सामने हैं। यह पर्वत-माला सिन्धु नदी के सिरे पर नंगा पर्वत से आने वाले हिम-शिखरों से जा मिलती है—सूरु में स्थित ननकुन चोटियों की दक्षिण-पूरब दिशा में। इस संगम-स्थान से कुछ मील दक्षिण में लद्दाखी नाम का ज़ोजी-ला दर्रा (११३०० फुट) है जो बालतल से द्रास नदी की ऊँचे धरातल वाली घाटी में और इस प्रकार सिंधु नदी की घाटी में ले जाता है।

ज़ोजी-ला का मार्ग प्राचीन काल में भी महत्वपूर्ण था। लद्दाख, तिब्बत और चीन जाने का यही मार्ग था। यहाँ भी पर्वतों का जलाश्रय (water shed)

ही प्राचीन काल से काश्मीर की जातिगत सीमा बना। दर्रे के उस पार भौट्टों या भुट्टों (काश्मीरी—बुट) का देश है। ओ-कोंग ने सबसे पहले तोउफ़न (तिब्बत) जाने के मार्ग के रूप में इसका उल्लेख किया है। परन्तु कल्हण ने कदाचित् इसका कहीं हवाला नहीं दिया, क्योंकि दर्रे के उस पार का देश काश्मीरी राजाओं के राजनीतिक प्रभाव से बाहर था। संभवतः भुट्ट-देश को जाने वाले मार्ग के ज़ोजी-ला दर्रे का उसने 'भुट्टराष्ट्राध्वन' नाम से उल्लेख किया है। कल्हण के अनुसार दरद लोगों ने दावेदार भोज को इसी मार्ग से काश्मीर भेजने की चेष्टा की थी।

ज़ोजी-ला दर्रे का प्राचीन नाम अज्ञात है, परन्तु कई बार काश्मीर पर इस मार्ग से आक्रमण हुए हैं। चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में तुर्क सरदार डुल्चा और भुट्ट राजकुमार रिंचन इसी मार्ग से घाटी में प्रविष्ट हुए। रिंचन के आगमन से काश्मीर में हिन्दू-राज्य का अन्त होगया। लगभग दो शताब्दी बाद पुनः इसी मार्ग से आक्रमण हुआ और छोटी-सी मुग़ल फ़ौज को लेकर मिर्ज़ा मुहम्मद हैदर (१५३२ ई०) सफलतापूर्वक घाटी में घुस आया। अपनी 'तारीख़े रशीदी' में उसने इस मार्ग का वर्णन किया है।

आगे पर्वत-शिखर और ऊंचे होते जाते हैं, १८ हज़ार से २० हज़ार फुट तक। ज़ोजी-ला से दस मील पूरब-दक्षिण की दिशा में एक ऊंची चोटी के स्थान से काश्मीर को घेरने वाली पर्वत-माला प्रधान शृंखला से शाखा की तरह फूट कर अलग हो जाती है और दक्षिण की दिशा में चलकर वितस्ता के जलाश्रय तक पहुँचती है। वहाँ से दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़कर वह बानहाल दर्रे पर पीर पंचाल पर्वत-माला से जा मिलती है। इस पर्वत-शृंग से होकर चिनाब नदी में गिरने वाली मरिउवाड्वन धारा की घाटी और किश्तवाड (काष्ठवाट) की घाटी के लिए मार्ग जाते हैं। ये घाटियाँ दुर्गम स्थानों पर हैं और बहुत थोड़े लोग वहाँ बसते हैं। प्राचीन काल में उनके साथ काश्मीर का बहुत कम व्यापार होता था।

काश्मीर की उत्तरी सीमा पर और अमरनाथ के विशाल हिम-शिखर के निकट 'अमरनाथ' (अमरेश्वर) का तीर्थ है जिसे काश्मीरी में अम्बुरनाथ कहते हैं।

अमरनाथ का तीर्थ

गंगबल के अतिरिक्त यह काश्मीर का सबसे प्रधान तीर्थ है। अमरनाथ के लिए श्रावण में यात्रा होती है। काश्मीर और भारत से आये हज़ारों यात्री वहाँ जाते हैं। दक्षिण में स्थित हिम-मण्डित पर्वत-शिखर अमरनाथ (१७३०० फुट) के विशाल गर्त के सामने एक बड़ी प्राकृतिक गुफा है। इस गुफा में जो पानी चूता है उसमें बर्फ़ जम जाती है। इस बर्फ़ को स्वयंभू लिंग मान कर पूजा जाता है।

उसे शिव-अमरेश्वर का अवतार मानते हैं।

नीलमत और राजतरंगिनी में अमरनाथ का बहुत संक्षिप्त उल्लेख है—अर्थात् प्राचीन काल में इस तीर्थ का अधिक महत्व नहीं था।

परन्तु जोनराज ने लिखा है कि सुलतान ज़ैनुलआब्दीन इस तीर्थ की यात्रा को गया था। और माहात्म्यों में अब उसका पूरा महत्व स्वीकार किया गया है।

अमरनाथ जाने का मार्ग पहलगाँव होकर है। पहलगाँव से चन्दनवाड़ी एक पड़ाव पर है। उसके आगे पिस्सू घाटी पार करके मार्ग लिदर की घाटी के ऊपर से जाता है। आगे शेषनाग झील (सुश्रवस नाग) है जो कोहेनहार शिखर से आने वाले एक विशाल तुषार-नद के चरणों में स्थित है। इस झील और शिलाओं से घिरी खाड़ी के सम्बंध में जिसे ज़ामतुरिनाग (जामातृनाग) कहते हैं, कल्हण ने एक स्थानीय उपाख्यान का वर्णन किया है। नरपुर के प्राचीन-स्थान से सम्बंधित उपाख्यान है कि यहाँ सुश्रवस नाग और उसका दामाद बसता था।

शेषनाग से मार्ग एक ऊँचे दर्रे से होकर जाता है। इसे वावजन (वायुवर्जन) कहते हैं। आगे पंचतरणी नाम की ऊँचे धरातल वाली घाटी आती है जहाँ पाँच धाराएं आकर मिलती हैं। यहाँ से उत्तर में एक शैल-बाहु को पार करके एक संकुचित, स्थायी बरफ से जमी, नग्न शैल पर्वतों की उदास घाटी में उतरते हैं, जहाँ कुछ चलकर बायें किनारे अमरनाथ की गुफा है। इस घाटी में बरफ के नीचे जो धारा बहती है उसे 'अमरावती' कहते हैं। आगे चलकर अमरावती की धारा पंचतरणी की धारा से मिलकर बाल्तल तक जाती है।

सिंध और वितस्ता के बीच की जलाश्रयी पर्वत-माला

पूरब के पर्वत-शृंग से मिले हुए जो विशाल पर्वत हैं वे यद्यपि काश्मीर की सीमा में नहीं हैं, तो भी उल्लेखनीय हैं। कोहेनहार और अमरनाथ की चोटियों से अलग होकर ये पर्वत पश्चिम में गाराबार (कोलेहाई) के शिखर में जाकर समाप्त हो जाते हैं। यहाँ से अनेक शैल-बाहु फूटते हैं जिनके ऊपरी गर्तों में तुषार-नद हैं।

इनमें से सबसे ऊँचा शैल-बाहु तीस मील तक सिंध-गंगा की घाटी के दक्षिणी तट के रूप में जाता है। एक ऊँचा शैल-बाहु जिसे 'दूरुन नार' कहते हैं, उत्तर की ओर सुनमर्ग की ओर उतरता है। संभवतः इसे ही प्राचीन काल में 'धुडावन' कहा गया है जहाँ पर एक फौजी घेरा पड़ा था। पश्चिम में इसी शैल-बाहु का अन्तिम भाग श्रीनगर के उत्तर में स्थित डल झील के किनारे तक पहुँचता है। यहीं पर महादेव नाम का पर्वत और तीर्थ-स्थान है।

महादेव के सामने डल के पूर्वी किनारे पर एक और शैल-बाहु है जिसका नाम 'श्रीद्वार' था। यहाँ अनेक प्राचीन तीर्थ स्थान हैं, जैसे सूरेश्वरी, त्रिपुरेश्वर, हर्षेश्वर और ज्येष्ठेश्वर आदि। इस शैल-बाहु की अन्तिम प्रशाखा गोपादरी (तख्ते-सुलेमान) पहाड़ी है जिस पर शंकराचार्य का मन्दिर है। श्रीनगर से उत्तर और पूरब में और भी कई शैल-बाहु नीचे उतरते हैं जो क्रमशः विही और बुलर के परगनों में आकर समाप्त हो जाते हैं।

कोहनहार शिखर (१७ हजार फुट) से आगे पर्वत नीचे होते जाते हैं। वहाँ पर मर्गन दर्रा है जिससे होकर मरिउवाड्वन की घाटी का मार्ग है। विवरणों में इस घाटी का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। आगे दक्षिण में मरब्ल दर्रा है जो किश्तवाड़ जाने का सुगम मार्ग है। किश्तवाड़ की घाटी में अब आधे काश्मीरी बसते हैं। परन्तु कल्हण ने इसका उल्लेख एक स्वतंत्र पहाड़ी राज्य के रूप में किया है। मरबल दर्रे के पार खशाल घाटी है। कल्हण ने एक स्थान पर उसका नाम 'खशाली' और दूसरे स्थानों पर 'खशालय' लिखा है, जिससे पता चलता है कि इस स्थान पर खश जाति बसती थी। इस प्रकार पूरब की दिशा में भी काश्मीर की जातिगत सीमा पर्वतीय जलाश्रय तक ही थी।

काश्मीर की घाटी

काश्मीर की घाटी के सांस्कृतिक भूगोल का वर्णन करने के पूर्व पाठकों पर यह विदित कर देना आवश्यक है कि ब्राह्मण परम्परा के अनुसार घाटी की प्रत्येक झील, नदी, निर्झर या चश्मे का दैवी जन्म है, और वे एक अलौकिक उद्देश्य की पूर्ति कर रहे हैं, अर्थात् भक्तों के पापों को धोकर बहा ले जाते हैं। वे स्वयं काश्मीर को सबसे ज्यादा पवित्र स्थान मानते हैं—उसे ऋषिभूमि और शारदपीठ नामों से पुकारते हैं। काश्मीर का स्वयं अपना प्रयाग है, वितस्ता (यमुना) और सिंध (गंगा) का संगम। काश्मीर का अपना कुरुक्षेत्र भी है और भारत की जितनी पवित्र नदियाँ या चश्मे हैं उनके प्रतिरूप काश्मीर में भी मौजूद हैं।

सतीसरस का उपाख्यान

चूंकि सारी घाटी पर्वतों से घिरी हुई है, इसलिए परम्परा से यह विश्वास प्रचलित है कि प्रारंभ में काश्मीर 'सतीसरस,' अर्थात् दुर्गा की झील था। कल्प के आदि में ही इस झील का अस्तित्व बताया जाता है। सातवें मनु के काल में इस झील में रहने वाले दानव जलोद्भव ने निकटवर्ती प्रदेशों को अपार क्षति पहुँचाई। कश्यप मुनि ने, जो सारे नागों के पिता थे और उन दिनों उत्तर-भारत में पर्यटन कर रहे थे, इस अपार क्षति और दुःख-दर्द की कहानी अपने पुत्र नील-नाग से सुनी।

नील काश्मीर के नागों का राजा था। कश्यप मुनि ने दानव का संहार करने का वचन दिया और ब्रह्म-शिखर (ब्रमसकल) पर जाकर उन्होंने ब्रह्मा और दूसरे देवताओं से सहायता की याचना की। ब्रह्मा की आज्ञा पाकर सारे देवता सतीसरस पर जमा हुए और 'नौ बन्धन तीर्थ' के शिखर पर उन्होंने मोर्चा बाँधा। जलोद्भव को पानी के भीतर कोई परास्त नहीं कर सकता था, और देवताओं की चुनौती पाकर भी उसने पानी से निकलना स्वीकार नहीं किया। इस पर विष्णु की आज्ञा से उनके भाई बलभद्र ने अपने हल के फाड़े से पश्चिमोत्तर के पर्वत को चीरकर झील के पानी के लिए निर्गम मार्ग बनाया। जब झील का पानी निकल गया तो विष्णु ने अपने चक्र से घमासान युद्ध के पश्चात् दानव का सिर काट दिया।

इसके पश्चात् कश्यप ने काश्मीर की घाटी को बसाया। देवताओं और नागों ने इस देश को अपना निवास-स्थान बनाया और देवियाँ नदियों के रूप में यहां बस गईं। पहले यहाँ मनुष्य वर्ष में केवल छै महीने ही रहते थे। नागों के कृत्यों से खिन्न होकर कश्यप मुनि ने श्राप दिया था कि उन्हें वर्ष में छै महीने पिशाचों के साथ रहना पड़ेगा। इसलिए जाड़ों में लोग घाटी के बाहर चले जाते थे और चैत्र में लौटकर आते थे। चार युगों के पश्चात् चन्द्रदेव ब्राह्मण ने अनेक संस्कार, यज्ञ और क्रियाएं करके नीलनाग की कृपा से यहाँ के लोगों को पिशाचों और शीत से मुक्ति दिलायी।

ह्यूनसांग ने भी झील के शुष्कीकरण का जिक्र किया है, परन्तु बौद्ध दृष्टि से।

केवल काश्मीर की घाटी ही नहीं, वरन् भूगर्भ-शास्त्री समूचे हिमालय पर्वत-प्रदेश के उद्गम के संबंध में भूगर्भ-विषयक तथ्यों की परीक्षा के पश्चात् एक निश्चित परिणाम पर पहुँच चुके हैं। कर्नल बरर्ड और सर हेनरी हेडन ने भारत-निरीक्षण के पश्चात् अद्भुत तथ्यों का उद्घाटन किया है। हमारी पृथ्वी सूर्य से छिटककर जब धीरे-धीरे सतह पर ठंडी और ठोस हो गई और ऊंचे स्थानों पर खुश्क ज़मीन निकल आई और विशाल गर्तों में पानी एकत्र होकर सागर बन गए, उस समय मध्य और उत्तर-भारत में, यहाँ तक कि हिमालय-प्रदेश तक में, एक उथला-सा सागर फैला हुआ था। काश्मीर और उसके उत्तर के विशाल हिम-शिखरों का प्रदेश भी उस समय जल-मग्न था, और काश्मीर या हिमालय का जन्म नहीं हुआ था। परन्तु यह लगभग १० करोड़ वर्ष पहले की बात है। उस समय काश्मीर की सबसे प्राचीन शिलाएं समुद्र-तल के नीचे थीं, और यह सागर जो काश्मीर और हिमालय

घाटी के झील-संबंधी लक्षण-विशेष

के वक्ष पर तरंगित हो रहा था, संभवत: पश्चिम में योरप तक और पूरब में चीन तक फैला हुआ था, और भारत का निचला या दक्षिणी भाग उस समय भी एक खुश्क प्रदेश था और अफ्रीका से जुड़ा हुआ था। इस सागर में चारों दिशाओं के प्रदेशों से असंख्य नदियाँ आकर गिरती थीं और उसमें मिट्टी लाकर जमा करती जाती थीं। लाखों वर्षों में इस मिट्टी की सैकड़ों और हजारों फुट मोटी तहें जम गईं और अन्त में जब भूमि का वक्ष ऊपर को उठा तब यह मिट्टी सख्त होकर आधुनिक काश्मीर के चतुर्दिक फैले हुए पर्वतों के रूप में परिणत हो गई।

ज्ञात तथ्यों के अनुसार सर्वप्रथम 'जौनसार-युग' में इस प्रदेश में पृथ्वी का वक्ष अत्यन्त अशान्तिपूर्वक उठा और जो मिट्टी समुद्र-तल में जमा हो चुकी थी वह ऊपर को निकल आई। उसकी सतह से अनेक ज्वालामुखी फूट पड़े और जमा मिट्टी पर लावा की मोटी तहें जम गईं। श्रीनगर की गोपादरी (तख्ते-सुलेमान) नाम की पहाड़ी इसी लावा की तहों से बनी है।

काश्मीर उस समय ज्वालामुखी पर्वतों के टापुओं का समुदाय था। यह स्थिति भी स्थायी नहीं रही, क्योंकि जब पृथ्वी का वक्ष नीचे बैठने लगा तो यह सारा प्रदेश पुन: जलमग्न हो गया और उस समय यह सागर सभवत: अमरीका तक फैल गया। आगे चलकर 'डिवोनियन-युग' के अन्त में जब कि 'कार्वन-संवंधी' वस्तुएं धरातल पर जमा हो रही थीं, पृथ्वी के गर्भ में पुन: आग्नेय हलचलें हुईं और पृथ्वी का वक्ष उठा और काश्मीर का दक्षिणी भाग ज्वालामुखी पर्वतों के द्वीपों का समूह बन गया।

अन्त में धीरे-धीरे समूचा काश्मीर जल के ऊपर निकल आया और भारत की भूमि का अंग बन गया। भारत उस समय अफ्रीका से जुड़ा हुआ था। परन्तु यह अवस्था भी एक संक्षिप्त काल तक ही रही, क्योंकि कार्वन-संवधी युग के मध्य में यह प्रदेश पुन: नीचे दबकर जल-मग्न हो गया और बीसियों लाख वर्ष तक इसी प्रकार जल के भीतर डूबा रहा। अन्त में भू-तत्त्व निर्माण के तृतीय-युग के प्रारंभ में यह प्रदेश पुन: धीरे-धीरे पानी के नीचे से निकला। तिब्बत और हिमालय से सागर पीछे हटता गया और तृतीय-युग के अन्त तक जब कि भूमि के निम्नतर स्तर का निर्माण हो चुका था, तिब्बत और हिमालय का प्रदेश शुष्क भूमि बन गया। भूमि की आन्तरिक शक्तियों की अन्तिम हलचल के रूप में ऊपर की जमा मिट्टी की सतह को चीरकर उसके ज्वालामुखी गर्भ से स्फटिक की विगलित शिलाओं के विशाल-खंड निकल पड़े। उस प्रज्वलित गर्भ से निकली ये स्फटिक शिलाएं ऊपर उठती गईं, यहां तक कि वे चिरस्थायी हिम-प्रदेश की ऊंचाई तक पहुंच गईं और

तभी जाकर उनका ऊर्ध्वगमन बन्द हुआ। हिमालय के महान् उत्तुंग शिखरों का जन्म इस प्रकार हुआ।

पृथ्वी के गर्भ की इतनी ज़बर्दस्त हलचलों के परिणामस्वरूप काश्मीर-घाटी का निर्माण हुआ है। इन दस करोड़ वर्षों की अवधि में यह प्रदेश कुल मिलाकर नौ करोड़ वर्षों के लगभग जलमग्न रहा है, और अन्तिम रूप से पानी से बाहर तो कोई चालीस लाख वर्ष पूर्व ही निकला है। संभवतः, चूंकि पृथ्वी का धरातल ठंडा होते जाने के कारण उसका व्यास संकुचित होता गया है, स्थान-स्थान पर पृथ्वी की सिकुड़न के रूप में पर्वत-शृंखलाएं बनती गई हैं। भूमि की असीम शक्तियों के आन्तरिक संघर्ष से ही यह महान् परिणाम निकला है, फिर भी यह एक-दो दिन की कहानी नहीं है, न किसी हठात् परिवर्तन से ही यह संभव हो सका है। इन हलचलों और परिवर्तनों में लाखों और करोड़ों वर्ष लगे हैं।

काश्मीर के पर्वतों के इतिहास की अपेक्षा में यदि देखें कि यहाँ पर जीवन का विकास कैसे हुआ तो ज्ञात होता है कि दस करोड़ वर्ष पहले जब प्रथम बार यह प्रदेश पानी से बाहर निकला, उस समय समुद्र या धरातल पर 'जीव' का कहीं कोई चिन्ह नहीं था। आगे भी भू तत्त्व-संबंधी केम्ब्रियन तथा सिलूरियन युगों में भी, जो तीन से पाँच करोड़ वर्ष पहले गुज़र चुके हैं, काश्मीर की शिलाओं में जीव के चिन्ह नहीं मिलते। ज्वालामुखी पर्वतों के टापुओं के रूप में जब काश्मीर पानी के बाहर निकलता था उस समय समुद्र में चाहे निम्नतर कोटि के जीव रहते हों, पृथ्वी पर जीव के उत्पन्न होने की संभावनाएं नहीं रहती थीं। यहाँ तक कि आकाश में पक्षी भी नहीं उड़ सकते थे, और न भूमि पर कोई वनस्पति ही उगती थी। परन्तु लगभग दो करोड़ वर्ष पूर्व से हमें काश्मीर की भूमि पर जीव-चिन्ह मिलने लगते हैं। उस युग की शिलाओं की तहों में शिलीभूत घोंघे और शंख मिले हैं। इसी काल के समीप पृथ्वी के वक्ष में एक भीषण हलचल हुई, जिसके परिणाम-स्वरूप पृथ्वी के गर्भ से निकलकर पर्वत आजकल के सर्वोच्च शिखरों से भी ऊंचे उठ गए और तब पंजाब में भी स्थायी हिम से मंडित शिखर और विशाल तुषार-नद उत्पन्न हो गए। परन्तु आज पंजाब में इन पर्वतों का कोई चिन्ह भी शेष नहीं रहा।

इस युग में काश्मीर की भूमि पर और उसकी झीलों में वनस्पति और निम्नकोटि के जीव उत्पन्न हुए, इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। परन्तु इसके १ करोड़ ४० लाख वर्ष आगे तक काश्मीर के प्राणि-जीवन में कोई विशेष परिवर्तन या विकास नहीं हुआ। काश्मीर पुनः जलमग्न हो चुका था, और इस सागर में नदियों के द्वारा बहाकर लाई गई मिट्टी की मोटी तहें जमती गई थीं। ४० लाख वर्ष

पूर्व भूगर्भ की हलचलों के परिणामस्वरूप शनैः-शनैः ३० लाख वर्षों में वर्तमान काश्मीर पानी से बाहर निकल आया। भू-स्तर निर्माण के इस तृतीय युग में वनस्पति और प्राणि-जगत में एक महान् परिवर्तन आया। परन्तु फिर भी इस समय तक मनुष्य नहीं पैदा हुआ था, यद्यपि स्तनधारी पशु उत्पन्न होने लगे थे। काश्मीर में जो करेवा या उडर हैं, उनकी मिट्टी की परीक्षा करने से यह सिद्ध होता है कि जब काश्मीर समुद्र से बाहर पूर्णतः निकल आया उस समय काश्मीर की घाटी एक विशाल झील रही होगी, और बारामूला के निकट वितस्ता (झेलम) का इस समय जो निर्गम मार्ग है वह बन्द रहा होगा। इसके तुरन्त पश्चात् लगभग २५ लाख वर्ष पूर्व जब हिम-युग प्रारंभ हुआ उस समय सिंध गंगा, लिदर, लोलाब और दूसरी घाटियों में होकर विशाल तुषार-नद पर्वतों से नीचे उतरे। इसी काल में मध्य और दक्षिण-भारत की बड़ी नदियों की घाटियों में प्रथमबार मनुष्य का जगत् के रंगमंच पर प्रादुर्भाव हुआ। यह मनुष्य वहां से चलकर काश्मीर और वितस्ता की घाटी में कब पहुंचा इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। लोलाब घाटी की एक गुफा में मि० रेडक्लिफ ने मनुष्य की दस्तकारी के जो चिन्ह खोज निकाले हैं उनसे केवल यही कहा जा सकता है कि मनुष्य इस घाटी में काश्मीर के ढाई-तीन सहस्र वर्षों के इतिहास-काल से कई हज़ार साल पहले पहुँचा होगा, परन्तु उसके बहुत पूर्व वितस्ता का निर्गम-मार्ग बन चुका था और काश्मीर की घाटी अपने वर्तमान रूप में अस्तित्व में आ चुकी थी। अतएव यह कदापि संभव नहीं है कि किसी भी मानव-प्राणी ने हिम-युग के पूर्व की झील देखी हो या किसीके सामने वितस्ता का निर्गम मार्ग बना हो और यहां की झील का पानी उसके द्वारा बह गया हो। भू-तत्व-निर्माण की तुलना में मनुष्य की आयु उसकी छलांग भी नहीं है, और भू-तत्त्व के काल-माप के अनुसार काश्मीर की झील-संबंधी जमा मिट्टी चाहे अधिक प्राचीन न हो, परन्तु मनुष्य की आयु से बहुत पुरानी है। इसके अतिरिक्त भू-तत्व शास्त्रियों की तरह प्राचीन मानव ने झील-संबंधी जमा मिट्टी की परीक्षा करके इस उपाख्यान की रचना की हो, यह भी संभव नहीं है। अतः हम केवल इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि घाटी की प्राकृतिक बनावट को देखकर ही प्राचीन काल में लोगों ने यह कल्पना की कि यहां पहले एक झील रही होगी और फिर इसी कल्पना के सहारे 'सतीसर' वाले उपाख्यान की रचना हुई।

प्राचीन काल से घाटी के पानी को बाहर निकालने के भागीरथ प्रयत्न होते गये हैं, झीलें और दलदलें साफ़ करके कृषि-भूमि का विस्तार बढ़ाया गया है। इन सब बातों से भी किसी काल में एक विशाल झील के अस्तित्व का अनुमान किया

जा सकता है। पुराणों और माहात्म्यों में कल्पना की उड़ानें अद्भुत हैं, और बारामूला से नीचे पानी के एकमात्र निर्गम मार्ग को देखकर भी ऐसी पौराणिक कल्पना को स्वाभाविक प्रोत्साहन मिला होगा। अतः इस उपाख्यान की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयत्न न करके लोगों को भू-तत्त्व-संबंधी तथ्यों से अवगत होने की चेष्टा करनी चाहिए।

काश्मीर की घाटी के दो भाग हैं। एक तो वितस्ता के दरिया बरार की मिट्टी से बना मैदान है और दूसरा पठारों या करेवों की भूमि है। यह करेवा नदियों के धरातल से ऊंचाई पर हैं और प्राचीन झील-संबंधी मिट्टी के जमा होने से बने हैं।

वितस्ता का काश्मीरी नाम व्यथ (संस्कृत—वितस्ता, प्राकृत—विदस्ता; अपभ्रंश—वि (ह) अथ काश्मीरी—व्यथ) है। ऋग्वेद में 'वितस्ता' नाम आया है। यूनानियों ने इसे हाईडस्पीज़, टोलमी ने इसे विडस्पीज़ और चीनी यात्री ओ-कोंग ने इसे 'विदस्ता' नाम से उल्लिखित किया है।

वितस्ता नदी

इसका 'झेलम' नाम कब और कैसे पड़ा, यह काश्मीरियों को ज्ञात नहीं है। पंजाब में इसे झेलम कहते थे। निश्चय ही काश्मीर में विदेशियों ने इस नाम को प्रचलित किया है।

अल्बिरूनी को झेलम नाम ज्ञात था और श्रीवर ने सुलतान हैदरशाह के पंजाब-आक्रमण का वर्णन करते हुए इस नाम को संस्कृत के साँचे में ढालकर 'ज्यलमि' लिखा है।

काश्मीर घाटी की दक्षिण-पूर्वी अनेक धाराओं के संगम-स्थान पर व्यथ नदी बनती है। यह संगम अनन्तनाग (इस्लामाबाद) के निकटवर्ती मैदान में होता है। परन्तु लोक-परंपरा इस पवित्रतम नदी का उद्गम एक विशेष स्थान पर ही स्वीकार करती है।

नीलमत पुराण में वर्णित और हरचरित चिन्तामणि में उद्धृत एक प्राचीन उपाख्यान है कि शिव-पत्नी पार्वती वितस्ता के रूप में प्रकट हुई हैं। काश्मीर की सृष्टि के बाद कश्यप मुनि की याचना स्वीकार करके शिव ने पार्वती को इस घाटी में नदी के रूप में अवतरित होने के लिए राज़ी कर लिया ताकि यहाँ के निवासी पिशाचों के पापपूर्ण संसर्ग से अपने को पवित्र कर सकें। पृथ्वी के गर्भ में प्रवेश करके देवी ने नदी का रूप धारण किया। शिव ने नीलनाग के स्थान के निकट त्रिशूल की नोंक से पृथ्वी का हृदय चीर दिया। इस गर्त्त से, जो एक वितस्ति विस्तार का

खनबल (नीलमत के अनुसार 'खंडपुच्छनाग'—अनन्तनाग का बन्दरगाह) से नीचे वितस्ता में एक के बाद दूसरी लेदरी की सहायक नदियाँ आकर मिलती हैं और वितस्ता प्राचीन नगर और तीर्थ 'विजयेश्वर' (विजब्रोर) से गुजरती है। यहाँ से एक मील आगे तक नदी के दोनों ओर ऊंचे करेवा हैं। बायें तट पर 'चकदर उडर' (करेवा) है जो चक्रधर घाटी के सबसे प्राचीन स्थानों में से है।

तीन मील नीचे मरहोम (मडवाश्रम) के पास वितस्ता में वेशउ (विशोका) और रम्बियार (रमण्याटवी) की धाराएं आकर मिलती हैं। माहात्म्यों में इस संगम-स्थान को 'गंभीर-संगम' लिखा है। अन्यथा कल्हण के अनुसार वेशउ और रम्बियार के सन्निप्त संयुक्त प्रवाह का नाम 'गभीरा' है। गंभीरा वास्तव में गहरा है और सैनिक महत्व का स्थान रहा है। प्राचीनकाल में राजा सुस्सल की फौज पीछे हटते समय गंभीरा पर आकर पूर्णतः परास्त हुई थी। इसके छै वर्ष बाद उसके पुत्र के सेनापति रुज्जी ने एक विद्रोही सेना के विरुद्ध 'गंभीरा' को पार करने में सफलता प्राप्त की थी। गभीरा एक महत्त्वपूर्ण तीर्थ-स्थान भी है।

गंभीरा

वेशउ (विशोका) काफी बड़ी नदी है। बानहाल और सिदउ दर्रों के मध्य के पीर पंचाल का सारा पानी समेट कर लाती है। प्राचीन विवरणों में उसका उद्गम क्रम सरस (कौंसरनाग) बताया गया है। नीलमत के अनुसार विशोका के रूप में लक्ष्मी प्रकट हुई हैं। कौंसरनाग (झील) की धारा का पानी सिदउ गाँव के पास 'अहरबल' (आखोर बिल = चूहे का बिल) प्रपात के रूप में गिरता है। पर्वत से जहाँ पर विशोका नीचे उतरती है वहाँ उससे अनेक नहरें निकाली गई हैं जो आड्विन (कराल) दिवसर (देवसरस) आदि प्राचीन परगनों की सिंचाई करती हैं।

वेशउ

इन नहरों में से एक का नाम सुनमन कुल (सुवर्णमणि कुल्या) है। यदि राजा सुवर्ण द्वारा बनाये जाने की कहानी को सत्य माना जाय तो निश्चय ही यह नहर बहुत पुरानी है। एक दूसरी प्राचीन नहर का नाम 'नान्दी' है। यह प्राचीन कटिमुस (वेमुह) गाँव के पास से निकलती है। अवन्तीवर्मन ने वितस्ता-तल नीचा करने के लिए जो प्रयत्न कराये थे, उनके सिलसिले में नन्दक गाँव का जिक्र आता है, जिसका नान्दी नहर से सम्बन्ध है।

रम्बियार

पीर पंचाल और रूपरी दर्रों की धाराओं को मिला कर रम्बियार नदी बनती है। हुरपोर (सुरपुर) के पास पर्वतों से उतरकर यह नदी एक चौड़े पथरीले मार्ग से कई धाराओं में बंटकर बहती

है। इसका पथरीला और शुष्क मार्ग त्सुरन (छुरंन) गाँव के पास दो मील चौड़ा हो जाता है।

इतनी चौड़ी भूमि का दुरुपयोग परंपरा के अनुसार नागी रमण्या के कारण हुआ है। नरपुर का संहार करते समय अपने भाई सुश्रवस नाग की सहायता के लिए वह असंख्य प्रस्तर-खंड लेकर पर्वत से उतरी। जब उसने सुना कि सुश्रवस नाग अपना लक्ष्य प्राप्त कर चुका है तो उसने ध्वस्त नगर के एक योजन पर सारे पत्थर पटक दिये। जहाँ पर पथरीली तलहटी त्यागकर रम्बियार मिट्टी के मैदान में प्रवेश करती है उससे इतने ही फ़ासले पर लितर नाम का गाँव है।

गंभीर संगम के आगे वितस्ता में वुलर प्रदेश (प्राचीन होलडा परगना) की धारा आकर मिलती है। फिर वह प्राचीन नगर अवन्तीपुर के पास होकर वस्तर-वन नाम के शैल-बाहु से सटकर आगे बढ़ती है। आगे श्रीनगर तक मार्ग में कोई महत्वपूर्ण धारा आकर वितस्ता में नहीं मिलती। बीच में प्राचीन नगर पद्मपुर (पाम्पुर) पड़ता है। श्रीनगर से पहले काश्मीर की प्राचीन राजधानी पुराणाधिष्ठान (पान्द्रेठन) आता है। पान्द्रेठन गाँव डल झील को घेरने वाले ऊँचे शैल-बाहुओं के दक्षिणी चरण में बसा है।

श्रीनगर में प्रवेश करते ही वितस्ता में डल झील से आने वाली एक नहर मिलती है। उसे आजकल चूंटिकुल पुकारते हैं। इसका प्राचीन नाम 'महासरित' है। डल पर स्थित नहर के द्वार का नाम 'दुर्गागलिका' (द्रुगजन) है। एक और जलमार्ग जो इस द्वार के पास ही महासरित में मिलता है, उसे मायसुम (मास्क्षिक-स्वामिन) कहते हैं। चूंटिकुल (नहर) प्राचीनकाल में श्रीनगर की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर थी और नगर के अनेक फ़ौजी घेरों के संबंध में उसका उल्लेख हुआ है। महासरित और वितस्ता का संगम शेरगढ़ी (राजप्रासाद, परन्तु वर्तमान सेक्रेटेरियट) के ठीक सामने के तट पर होता है। श्रीवर ने इस स्थान का अधिक आधुनिक नाम 'मारी संगम' दिया है। 'मारी' शब्द काश्मीरी के 'मार' से निकला है। आजकल 'मार' नाम डल की एक और नहर को दिया जाता है जो कि पश्चिम में घूमकर ब्रारिनम्बल (भट्टारनड्वला) के बीच से गुज़रती है। यह नहर शहर के आन्तरिक व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

डल (झील) काश्मीर घाटी का सबसे प्रिय स्थान है। यह झील चार मील लम्बी और ढाई मील चौड़ी है और कहीं भी तीस फुट से ज्यादा गहरी नहीं है। उसका दक्षिणी भाग अत्यन्त उथला है और काफी

डल

हिस्सा तैरने वाले बागों से घिरा है। झील में संवार और दूसरी

पानी की वनस्पतियों की बहुतायत है, परन्तु उसका पानी फिर भी भीतर के असंख्य चश्मों के कारण अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल है। आश्चर्य है कि राजतरंगिनी में डल झील का नामोल्लेख नहीं है और न उसके साथ कोई पवित्र भावना ही संबद्ध है, यद्यपि उसके तट पर अनेक प्राचीन और पवित्र स्थान हैं।

श्रीवर के विवरण में झील का उल्लेख है। उसने लिखा है कि सुलतान ज़ैनुलआब्दीन 'डल' झील की ओर उन्मुख हुआ और उसके पड़ोस को उसने सँवारा-सुधारा। जिन माहात्म्यों ने डल का उल्लेख करने की कृपा की है उनमें इसका नाम 'दल' मिलता है। श्रीवर ने डल के भीतर के दोनों द्वीपों का नाम 'लंका' लिखा है। आजकल उन्हें 'सुनलांक' 'रुपलांक' पुकारते हैं। आजकल झील के विभिन्न भागों के अलग-अलग नाम हैं, परन्तु विवरणों में केवल एक नाम हस्त-वालिका (अस्तवोल) का ज़िक्र है।

डल के पूर्वी किनारे पर गोपादरी, ज्येष्टेश्वर थेड़ा, शुरेश्वरी आदि प्राचीन और पवित्र स्थान और उनके नाग हैं। उत्तरी तट पर निशात और शालामार के मुग़ल बाग़ हैं और पश्चिमी तट पर मुग़लकालीन नसीम बाग़ है।

डल झील में उत्तर के पर्वतों से अनेक झरनों और चश्मों का पानी आता है। पूर्व के पर्वतों में मानसर झील से आने वाली एक धारा 'अरह' डल में गिरती है, शाखावतार ने उसे भी 'महासरित' नाम दिया है। उत्तरी तट पर जहाँ यह धारा डल में गिरती है, वहाँ उसे तेलबल नाल (तिलप्रस्थ) पुकारते हैं।

महासरित के संगम के नीचे तीन मील तक वितस्ता श्रीनगर के बीच से गुज़रती है। पहले काफ़ी दूर तक उत्तर की दिशा में बहती है, फिर चौथे पुल के पास दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़ जाती है। शेरगढ़ी और काठुल (काष्ठील) के बीच में एक नहर बायें तट से निकलकर अन्तिम पुल के पास मिलती है। इस स्थान का वर्तमान नाम कुटकुल (क्षिप्तिकाकुल्या) है। फ़ौजी बेरों के वर्णन में कल्हण ने कई बार क्षिप्तिका का उल्लेख किया है।

थोड़ा आगे चलकर दूध गंगा (दुग्धगंगा) वितस्ता में आकर मिलती है। इसे काश्मीरी में 'छरकुल' (श्वेतधारा) कहते हैं। बिल्हण ने श्रीनगर के वर्णन में उसका नाम दुग्धसिन्धु दिया है। यह धारा तत्कुटी शिखर के निकटवर्ती पीर पंचाल का भाग पार्श्व बटोर कर लाती है। संगसफ़ेद और येछरा नाम के पर्वतीय नालों का संयुक्त पानी लेकर यह नदी बनती है, और जहाँ पर यह वितस्ता में गिरती है, वहाँ दिद्दामठ के सामने एक तीर्थ-स्थान है।

श्रीनगर से आगे वितस्ता के मार्ग में काफी दूर तक नम्वल हैं। बायें तट पर 'होकुरसर' और 'पंज़िनोर' नाम के नम्वल हैं। उत्तरी तट के नम्वल ज्यादा बड़े और सिंध-गंगा के डेल्टा पर स्थित हैं।

सिंध गंगा

सिंध गंगा काश्मीर घाटी में वितस्ता की सबसे बड़ी सहायक नदी है। वह ज़ोजी-ला और अम्बरनाथ के शिखरों के निकटवर्ती पर्वतीय जलाश्रय का पानी लेकर आती है। परंपरा के अनुसार हरमुख पर्वत पर स्थित गंगबल झील से सिंधगंगा निकलती है। उसकी लम्बाई ६० मील है। उसका प्राचीन नाम सिंधु (नदी) है। पंजाब की सिंध नदी को काश्मीरी वडसिंध (महान सिंध) कहकर पुकारते हैं। हरचरितचिन्तामणि में उसका नाम वृहत्सिंध लिखा है। परंपरा के अनुसार देवी गंगा सिंध नदी के रूप में प्रकट हुई है। लार (लहर) का परगना सिंधुगंगा की घाटी में है।

दुदरहोम (दुग्धाश्रम) के पास जहां सिंधगंगा वितस्ता में गिरती है, उसकी अनेक धाराएँ बंटकर एक डेल्टा बनाती हैं। अधिकतर यह डेल्टा 'आंछियार' नम्वल के उथले पानी के नीचे है। आगे शादीपुर गांव के सामने वितस्ता पुनः एक धारा के रूप में प्रवाहित होती है।

प्राचीन काल में वितस्ता और सिंधगंगा का संगम एक बड़ा तीर्थ था। राजतरंगिनी में वितस्ता सिंधु-संगम का कई बार उल्लेख हुआ है। माहात्म्यों में इसे प्रयाग ही कहते हैं। संगम-स्थान पर एक कृत्रिम बनाया हुआ द्वीप है, जिस पर एक प्राचीन चिनार का वृक्ष है। काश्मीरियों के लिए वही प्रयाग का अशोक वृक्ष है। विशेष पर्वों के अवसर पर यहाँ यात्राएँ होती हैं।

परन्तु यह तीर्थ एक हज़ार वर्ष से पुराना नहीं है। अवन्तीवर्मन के समय में नदी की धारा को संयमित करने के लिए जो प्रयत्न किये थे उनके फलस्वरूप दोनों नदियों का संगम हटाकर वर्तमान स्थान पर कर दिया गया था।

सुय्य का वितस्ता नियमन

बाढ़ों के कारण प्राचीन काल में देश की अधिकांश पैदावार नष्ट हो जाती थी। ललितादित्य के समय में देश में से पानी निकालने के लिए जो प्रयत्न किये गए थे उनके फल-स्वरूप कृषि की पैदावार बढ़ गई थी। परन्तु बाद में राजाओं ने इस ओर ध्यान नहीं दिया, और बाढ़ और अकाल अक्सर पड़ने लगे। अवन्तीवर्मन के प्रतिभाशाली इंजीनियर सुय्य ने वितस्ता-नियमन का बीड़ा उठाया।

क्रमराज में वक़दर स्थान (द्यारगुल—बारामूला से तीन मील नीचे) से यह प्रयत्न शुरू हुए थे। यहाँ पर पर्वतों से ढुलककर आई विशाल शिलाओं ने

वितस्ता का मार्ग रोक दिया था। इन शिलाओं के हटाने से नदी का तल नीचा हो गया। इसके बाद पत्थर का बाँध बाँधकर नदी की धारा को एक सप्ताह के लिए एकदम थाम लिया गया और इस बीच में नदी की तलहटी को खूब साफ़ कर दिया गया। पार्श्व में पत्थर की दीवारें खड़ी कर दी गईं ताकि शिलाएँ गिरकर पुनः मार्गरोध न करें। फिर बाँध तोड़ दिया गया और पानी तेज़ी से बह निकला। जहाँ-जहाँ तट काटकर जल प्लावित हो जाता था, वहां-वहां नदी की तलहटी को बदल दिया गया। सिंध और वितस्ता का संगम-स्थान भी इसी कारण बदला गया।

वर्तमान संगम शादीपुर (शहाबुद्दीनपुर) के सामने है, प्राचीन संगम दो मील दक्षिण-पूर्व में त्रिगाम और परसपोर के करेवा के बीच में था। परसपोर प्राचीन परिहासपुर है और त्रिगामी प्राचीन त्रिगामी है जहां विष्णु के प्राचीन मन्दिर का ध्वंस है।

ललितादित्य ने परिहासपुर को अपनी राजधानी बनाया था। परसपोर के करेवा के एक ओर पंजिनोर नम्बल है और दूसरी ओर हारत्रठ नम्बल है। दोनों नम्बल उथले हैं और नाव्य नहीं हैं; परन्तु सुय्य के वितस्ता-नियमन के पूर्व वितस्ता इस करेवा के ठीक उत्तर में उन विशाल मन्दिरों के नीचे से होकर बहती थी जिन्हें ललितादित्य ने बनवाया था।

चक्राकार सेतु बांधकर बहुत-सी भूमि का उद्धार किया गया। वहाँ नई बस्तियां बसायी गई। इन चक्राकार सेतुओं के कारण इस स्थान को 'कुण्डल' नाम दिया गया। आज भी जहाँ वितस्ता वूलर झील में प्रवेश करती है। उसके पूर्व वत्सकुण्डल और मरकुंडल नाम के गांव हैं।

वितस्ता-सिंधु-संगम से आगे सुम्बल गांव है। त्रागबल दर्रे के लिए मार्ग इस गांव से होकर जाता है। यहां बायें तट पर कुछ दूर पर जयपुर का प्राचीन अवस्थान है। आठवीं सदी के उत्तरार्ध में जयपीड़ ने इस स्थान को अपनी राजधानी बनाया था। इसे अब अन्दरकोठ कहते हैं।

सुम्बल के निकट नदी के किनारे पर 'आहत्सुंग' नाम की छोटी पहाड़ी है जिसकी गोद में उत्तर की ओर दो मील लम्बी मानसबल झील है। यह झील काश्मीर की अन्य झीलों से गहरी है।

वुलर झील में सुलतान ज़ैनुलआब्दीन ने एक द्वीप बनवाया था—ज़ैन लंका (ज़ैनलांक)। जोनराज के अनुसार तब यह द्वीप झील के बीच में था, परन्तु अब किनारे के नम्बल में है। वुलर में मिट्टी जमती जाती है और उसका विस्तार कम होता जाता है।

बुलर काश्मीर की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण झील है। बाढ़ के विरुद्ध यह एक प्राकृतिक जल-भाण्डार है। यह १२ मील लम्बी, ६ मील चौड़ी, लगभग ७८ वर्ग मील क्षेत्रफल की विशाल झील है और घाटी के पश्चिमी भाग को एक अनुपम विशिष्टता प्रदान करती है। कहीं भी १५ फुट से ज्यादा गहरी नहीं है और जिन स्थानों पर नदियाँ आकर बुलर में मिलती हैं वहां तो और भी ज्यादा उथली है। फिर भी उत्तरी पर्वतों से जो तूफ़ान आते हैं वे झील में ऐसी उत्ताल तरंगें उठाते हैं कि उसमें नाव खेना असंभव हो जाता है। उत्तर में ढलवां पर्वतों के तट पर जो कृषि-भूमि है, उसे प्राचीन काल में खूयाश्रम (खुयहोम) कहते थे।

बुलर झील

बुलर का प्राचीन नाम महापद्मसरस है। तंग-वंश के विवरण में भी इसी नाम का प्रयोग हुआ है। वर्तमान नाम बुलर (बुल्गो) 'उल्लोल' से निकला लगता है। जोनराज ने एक स्थान पर इस नाम का प्रयोग भी किया है और एक आधुनिक माहात्म्य में भी यह नाम दिया गया है।

महापद्मसरस का उपाख्यान

नीलमत के अनुसार प्रारंभ में यहाँ षड्अंगुल नाग रहता था। वह देश की युवती नारियों को उठा ले जाता था। नागराज नील ने इस पर षड्अंगुल को दारवस देश से निकाल दिया। रिक्त स्थान पर राजा विश्वगश्व ने चन्द्रपुर नगर बसाया। इस नगर में दुर्वासा ऋषि को जब अच्छा स्वागत-आतिथ्य नहीं मिला तो उन्होंने श्राप दिया कि यह नगर जलमग्न हो जायगा। तब एक बूढ़े ब्राह्मण के वेश में महापद्मनाग ने विश्वगश्व के पास जाकर इस नगर में अपने परिवार के साथ निवास करने की आज्ञा माँगी। आज्ञा मिल जाने पर उसने राजा को अपना प्रकृत रूप दिखाया और नगर के जलमग्न हो जाने की चेतावनी दी। उसका आदेश पाकर राजा सब स्वजन-परिजनों को लेकर नगर छोड़कर बाहर निकल आया और दो योजन पश्चिम में 'विश्वगश्वपुर' बसाया। इसके पश्चात् महापद्मनाग ने चन्द्रपुर को एक झील के रूप में परिणत कर दिया। तब से वह और उसका परिवार वहाँ रहता है। कहते हैं कि जलमग्न चन्द्रपुर के भग्न अब भी देखे जाते हैं।

कल्हण ने एक और कथा सविस्तार लिखी है। एक द्रविड़ जादूगर ने जब महापद्म को शुष्क कर देने की धमकी दी तो महापद्म राजा जयपीड के स्वप्न में प्रकट हुआ, और उसे सोने की एक खान का पता देने का वचन दिया। जयपीड राजी तो हो गया लेकिन कुतूहलवश वह उस द्रविड़ के जादू का चमत्कार भी देखना चाहता था। अतः जब झील शुष्क होते-होते इतनी रह गई कि महापद्म और उसके

परिवार के मनुष्य-आकृति के सर्प दलदल में छटपटाने लगे तो जयपीड ने पुनः झील को पूर्वावस्था में करा दिया। परन्तु इस अपमान से क्रुद्ध होकर महापद्म ने राजा को केवल तांबे की खान का पता दिया, सोने की खान नहीं बताई।

पुराण (श्रीकण्ठक) के अनुसार कालीदहन के अवसर पर कृष्ण का चरण पड़ने से कालीनाग के सिर पर पद्म का चिन्ह बन गया था। इस कारण काश्मीरी महापद्मनाग को काली का ही अवतार मानते हैं।

वुलर झील में वितस्ता के अतिरिक्त 'मधुमती नाला' भी गिरता है। यह नाला हरमुख पर्वत और [illegible] दर्रे के बीच का पानी [illegible] है। इसका प्राचीन नाम मधुमती है। परन्तु शारदा तीर्थ पर किशनगंगा में मधुमती नाम की जो एक छोटी-सी धारा आकर मिलती है, उससे यह भिन्न है।

दक्षिण में सोपूर (सुय्यपुर) से दो मील ऊपर वुलर का पानी पुनः वितस्ता के रूप में बाहर को बह निकलता है। सोपूर से चार मील नीचे वितस्ता में काश्मीर की अन्तिम बड़ी धारा पोहुर नदी आकर मिलती है। काश्मीर के इस भाग का राजतरंगिणी में जिक्र नहीं है, अतः पोहुर और उसकी सहायक नदियों का भी जिक्र नहीं है। जोनराज ने इस नदी का नाम 'पहर' लिखा है। महात्म्यों में 'प्रहर' या 'प्रहार' दिया गया है।

पार्श्व की धारा मावुर (जोनराज के अनुसार 'स्वयंभूनाह'), जो [illegible] परगने में बहती है, नीलमत पुराण में इसका नाम महुरी लिखा है। दूसरी सहायक नदी हमल अपने परगने के नाम पर है, जिसे प्राचीन काल में '[illegible]' कहते थे।

वुलर से निकलकर अठारह मील आगे [illegible] ना बारामूला के दर्रे में पहुँचती है। बारामूला से आगे वितस्ता [illegible] पर

काश्मीर के सांस्कृतिक [illegible] के अध [illegible]
विचार करना आवश्यक है। हम पहले बता [illegible],
[illegible] धार्मिक स्थान हैं और

ज़ियारतें

[illegible] मन्दिर हैं, वहाँ-वहाँ [illegible]
स्थान हैं। इन ज़ियारतों [illegible]
[illegible] है। काश्मीर के वर्तमान सांस्कृतिक [illegible]
[illegible] है। अतः प्रमुख ज़ियारतों का उल्लेख
सुल्तान कुतुबुद्दीन (१३७३-८८ ई०
[illegible] मीर सैय्यद अली नाम के एक [illegible]

शाह हमदान

काश्मीर आये थे। वे काश्मीर और लद्दाख में इस्लाम का प्रतिपादन करते हुए भ्रमण करते रहे। काश्मीर की जनता को एक प्रकार से उन्होंने ही अपने उपदेशों और आचार-विचार से प्रभावित करके इस्लाम स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया। शाह हमदान जहां-जहां गये, लोगों ने वहां-वहां भक्तिवश उनके नाम पर ख़ानकाह मुअल्लाह निर्मित किये। श्रीनगर में तीसरे पुल के आगे शाह हमदान की विशाल ज़ियारत बनी हुई है, जहां बड़ी ईद के महीने में मेला लगता है।

ख़ानेयार शरीफ़

हज़रत मुहम्मद के वंशज और बग़दाद के निवासी अब्दुल क़ादिर जिलानी इस्लाम के जगत्-प्रसिद्ध विद्वान थे। वे स्वयं तो काश्मीर नहीं आये परन्तु उनके वंशज यहां आये और उन्होंने भी इस्लाम का प्रचार किया। वे इस्लाम के मुबल्लिग (प्रतिपादक) समझे जाते हैं। उनकी ख़ानकाह है जहां रब्बिउल अव्वल के दिन चांद के महीनों में मेला लगता है। इस ख़ानकाह में कहते हैं कि अब्दुल क़ादिर जिलानी के तबर्रुकात (स्मृति-चिन्ह) रखे हुए हैं। इस्लाम की तालीम के अनुसार यह जायज़ नहीं है, परन्तु हिन्दू और बौद्ध परम्पराओं का प्रभाव काश्मीर के मुसलमानों पर इस रूप में अवशेष है कि वे इन स्मृति-चिन्हों को अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रदान करते हैं।

हज़रत बल

हज़रत बल काश्मीर के मुसलमानों की सबसे प्रमुख और पवित्र दरगाह है। एक प्रकार से यह काश्मीरियों का मदीना है। यह दरगाह मुग़ल बादशाहों ने बनवाई थी और कहा जाता है कि वहां पर हजरत मुहम्मद का एक बाल रखा हुआ है। कई वर्षों से यह दरगाह काश्मीर की नेशनल कान्फ्रेन्स का राजनीतिक केन्द्र भी है। शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला वहां पर जुम्मा की नमाज़ पढ़ते हैं और लोगों को राजनीति की शिक्षा देते हैं। 'काश्मीर छोड़ दो' के आन्दोलन का नारा इसी स्थान से दिया गया था। इस समय शेख़ अब्दुल्ला ने यहां पर इस्लामी तालीम के लिए एक ओरियन्टल कालेज भी खोला है।

मख़दूम साहब

श्रीनगर के हरी-पर्वत पर मख़दूम साहब की ज़ियारत है, जहां वे स्वयं दफ़न हैं। मख़दूम साहब काश्मीरी संत और आलिम थे और उन्होंने काश्मीर के सामाजिक और राजनीतिक-जीवन के उत्थान के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया था। चक-वंश के सुलतानों और मुग़लों के बीच जो संघर्ष हुए, उनमें उन्होंने भाग लिया था और गांव-गांव फिर

कर वे लोगों में जागृति फैलाते थे। वे रैना पंडित वंश के किसान थे और बाद में मुसलमान हुए थे। काश्मीर के अधिकांश विद्वान और पंडित उनके अनुयायी थे, और स्वयं उनकी लिखी अनेक पुस्तकें आज भी आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। उनकी ज़ियारत पर सफ़र के महीने में मेला लगता है।

वतमालू साहब

श्रीनगर में शेख दाऊद की, जो वतमालू के नाम से प्रसिद्ध हैं, ज़ियारत है। जिस मोहल्ले में यह ज़ियारत स्थित है उसका नाम भी वतमालू है। काश्मीरी में 'वत' का अर्थ चावल और मालू का अर्थ पिता होता है—अर्थात् 'चावल देने वाला पिता'। वास्तव में वतमालू ज़मींदारों (किसानों) की ज़ियारत है और जब वैसाख में उस पर पांच दिन का बड़ा मेला लगता है, उस समय घाटी के सुदूर कोनों से चलकर किसान वहां जाते हैं। शेख दाऊद औरंगजेब के काल के एक किसान नेता थे। उनके पास थोड़ी-सी ज़मीन थी जिसे वे स्वयं जोतते-बोते थे। परन्तु फिर भी उसकी पैदावार से जो मिलता था उससे रात को लंगर चलता था और जो भी उस समय वहां पहुँच जाता उसे भात खाने को मिलता था। इससे शेख दाऊद वतमालू के नाम से प्रसिद्ध हो गए। आज भी किसान वतमालू के मेले के बाद ही खेत में बीज डालते हैं। मेले के दिनों में वतमालू के निवासी अंडा, गोश्त, प्याज आदि नहीं खाते, केवल दूध की चीज़ें और चावल खाते हैं और सारे मेहमानों को अनिवार्यतया भात खिलाते हैं।

चारी शरीफ़

श्रीनगर से लगभग १६ मील दक्षिण-पश्चिम की दिशा में शेख नूरुद्दीन वली की, जो नन्द ऋषि के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, ज़ियारत है। शेख नूरुद्दीन का काश्मीर के संतों में वही स्थान है जो भारत के संतों में कबीर का है। ये प्रसिद्ध काश्मीरी संत कवियत्री लल्लेश्वरी के शिष्य थे और स्वयं बड़े संत कवि और दरवेश थे। लोगों की नैतिक उन्नति के लिए वे समूची घाटी में नंगे पांव घूमते फिरते थे। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से उनकी श्रद्धा करते हैं। पतझर और शीत के दिनों में यहां बड़े मेले लगते हैं।

इन प्रसिद्ध ज़ियारतों के अतिरिक्त शेख नूरुद्दीन के शिष्य ज़ैन साहब की ऐशमुक़ाम नाम के गांव में स्थित जियारत, लिदर के तट पर बनी बाबा बामदीन की ज़ियारत, अनन्तनाग में स्थित रेशी साहब की ज़ियारत, गुलमर्ग के निकट एक अत्यन्त रमणीय स्थान पर बनी एक दूसरे रेशी साहब की ज़ियारत और बारामूला स्थित जानबाज़ साहब की ज़ियारत भी प्रसिद्ध हैं और वर्ष में एक या एक से

अधिक बार वहां भी मेले लगते हैं।

काश्मीर घाटी की डल, वुलर, मानसवल, गंगवल, कौंसरनाग आदि अनेक झीलों का हम उल्लेख कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त अंछार, तानसर, हाकुरसर (बारामूला जाने के मार्ग पर श्रीनगर से छै मील आगे), खुशालसर (ज़ादीवल के निकट) और पंचसर (शादीपुर से नीचे नेदरवई के निकट) आदि और भी कई सुन्दर झीलें काश्मीर की घाटी में हैं। इन सभी झीलों में मछलियों की बहुतायत है और उनमें सिंघाड़े और नदरू (कमल की जड़ें) पैदा होते हैं। साथ ही इन झीलों पर तैरने वाले बगीचे भी हैं जिन पर कद्दू, लौकी, खीरा, तरबूज़, सरदा, ककड़ी आदि अनेक प्रकार की तरकारियां और फल पैदा किये जाते हैं और पतझर के दिनों में उन पर खिले कमल के असंख्य फूलों की छटा दर्शनीय होती है।

झीलें

काश्मीर की घाटी में अनेक उच्च पर्वतीय चारागाह या मार्ग हैं जो आजकल यात्रियों के ग्रीष्म-निवास बन गए हैं। इनमें गुलमर्ग सबसे प्रसिद्ध है। गुलमर्ग का प्राचीन नाम गौरी मर्ग है, परन्तु चक-वंश के सुलतान यूसुफ़ शाह ने इसका नाम बदलकर गुलमर्ग रख दिया। जहांगीर ने यहां पर एक बार इक्कीस प्रकार के फूल एकत्र किये थे। यह स्थान अत्यन्त रमणीय और भव्य है। यहां से नंग पर्वत अपनी पूरी विशालता के साथ दृष्टिगोचर होता है। गुलमर्ग के ऊपर खेलनमर्ग और उसके पीछे पीर पंचाल की अफरवत चोटी है। गुलमर्ग से नीचे टंगमर्ग है और उसके निकट ही तिलवानमर्ग है। इनके अतिरिक्त सोनमर्ग, विश्नसरमर्ग (लार के पर्वतों में) काननमर्ग (ज़ोजीला दर्रे के निकट) नागमर्ग (वुलर झील के उत्तर में), मोहन्दमर्ग, महालीशमर्ग, गंगवलमर्ग और सालनमर्ग (लार के भारुत पर्वत पर), तोसमर्ग (या तोस मैदान), नंदमर्ग (बानहाल के निकट) आदि और अनेक मर्ग हैं, जहां यात्री आते-जाते हैं।

मर्ग

काश्मीर घाटी का दूसरा भाग वे पठार हैं, जिन्हें काश्मीरी में उडर कहते हैं। उडर का संस्कृत शब्द उड्डार है और आधुनिक फारसी व्युत्पत्ति का शब्द 'करेवा' है। प्राचीन संस्कृत शब्द 'सूद' था जिसका तात्पर्य है, अनुपजाऊ ऊसर भूमि। दामोदर उडर के लिए कल्हण ने सूद शब्द का प्रयोग किया है।

उडर या करेवा

भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार ये उडर झील-सम्बन्धी मिट्टी के जमा होने से बने हैं। अक्सर इन उडरों का ऊपरी भाग पूर्णतः चौरस है। नदियों के तल से इनकी ऊंचाई सौ से तीन सौ फुट तक है। अधिकतर उडर काश्मीर की दक्षिण-

पश्चिम की दिशा में हैं, शुपियां से लेकर बारामूला तक। कुछ उडर घाटी की उत्तर-पूरब दिशा में भी है।

इन करेवों पर पानी की कमी और सिंचाई की सुविधाओं के न होने से पैदावार बहुत कम होती है। इनमें से जो पर्वतों से लगे हुए हैं, उन पर प्राचीन काल से ही नहरें लाई गई हैं। परन्तु जो उडर पर्वतों से छिटककर अलग खड़े हैं, उन पर नाम मात्र को ही खेती होती है। वहाँ या तो छोटे पेड़ों के जंगल हैं या ऊसर-भूमि।

कुछ उडरों का प्राचीन काल से ही महत्व है, संभवतः वितस्ता के किनारे होने के कारण। मार्तण्ड, चक्रधर, पद्मपुर, परिहासपुर आदि नाम के उडर ऐतिहासिक महत्व के हैं; और दामोदर उडर का काश्मीर की पौराणिक कथाओं में स्थान है।

नहरें

करेवों की सिंचाई के लिए प्राचीन काल से नहरें बनाने के प्रयत्न होते आये हैं। राजा सुवर्ण ने अडविन परगने की सिंचाई के लिए सुवर्णमणिकुल्या नहर बनवाई थी। दामोदर उडर के लिए राजा दामोदर ने नहर निकलवाई थी। ललितादित्य ने चकदर (चक्रधर) उडर के गांवों में अरघटों द्वारा पानी पहुँचवाया था। अवन्तीवर्मन ने अपने इंजीनियर सुय्य की सहायता से अनेक नहरें निकलवाईं और वितस्ता के मार्ग का नियमन कराया। जोनराज और श्रीवर ने ज़ैनुलआब्दीन द्वारा बनवाई अनेक नहरों की सूची दी है। उनमें से ज़ैनगीर परगने की सिंचाई करने वाली पोहुर नदी की नहर और मार्तण्ड उडर की सिंचाई करने वाली लिदर नदी की नहर उल्लेखनीय हैं। इन उपायों का यह परिणाम हुआ था कि उस समय एक खारि (खरवार = लगभग दो मन) चावल का दाम २०० दीनार से कम होकर केवल ३६ दीनार रह गया था। ये प्राचीन नहरें इस बात का प्रमाण हैं कि उन दिनों उन ज़मीनों पर भी खेती होती थी जो आजकल ऊसर पड़ी हैं। संभवतः तब काश्मीर की जनसंख्या आजकल से ज्यादा थी। अब पुनः इन बेकार पड़ी प्राचीन नहरों को सुधार कर चालू करने की चेष्टा की गई है और कुछ नई नहरें भी बनाई गई हैं।

पैदावार

कुछ नाजों को छोड़कर काश्मीर में दो बार फ़सल नहीं बोई जाती। नवम्बर में बोये हुए जौ जून के अन्त में काटे जाते हैं। उसके बाद मक्का और बाजरा बोये जा सकते हैं। प्राचीन काल से चावल (काश्मीरी नाम 'शाली' है) ही यहां की प्रधान उपज है। विवरणों में इसे केवल 'धान्य' लिखा है। काश्मीरी एक प्रकार से केवल चावल खाते हैं। परन्तु चावल या गेहूं के खेतों में दो फसलें नहीं होतीं। गेहूं अक्सर पत-

झर (अक्टूबर-नवम्बर) के दिनों में बोया जाता है और जुलाई के मध्य में जाकर पकता है । चावल मई के अन्त में बोया जाता है और अक्टूबर के अन्त में काटा जाता है । जहां सिंचाई की सुविधाएं नहीं हैं, वहां मक्का या ऐसे ही सस्ते नाज बोकर संतोष करना पड़ता है ।

फल घाटी में सेब, नाशपाती, आड़ू, गिलास, शहतूत, बादाम और अखरोट के बाग़ और कुंज सर्वत्र फैले हुए हैं ।

केसर केसर और अंगूर के बारे में कल्हण ने लिखा है कि 'ये वस्तुएं स्वर्ग में भी दुर्लभ हैं, परन्तु यहाँ साधारण हैं ।' केसर या कुमकुम आज भी काश्मीर की प्रसिद्ध पैदावार है । प्राचीनकाल से ही पद्मपुर (पाम्पोर) के उडर में विशेषकर इसकी पैदावार होती है ।

काश्मीर के अंगूर, जिनका कल्हण ने जिक्र किया है, अब उन स्थानों पर नहीं होते । पहले उनकी अन्य देशों में भी ख्याति रही होगी, क्योंकि संस्कृत के कोश में भी अंगूर की एक विशेष किस्म का नाम 'काश्मीरा' दिया गया है । कल्हण के अनुसार मार्तण्ड के पास अंगूर बहुतायत से होते थे । अकबर के समय में भी यहां अंगूर खूब होते थे और सस्ते मिलते थे । परन्तु अब केवल सिंधुगंगा के दहाने पर ही थोड़े से होते हैं, या डल के तट पर जहां डोगरा राजाओं ने कुछ फ्रांसीसी अंगूर की लताएं लगवाई हैं ।

जलवायु प्राचीन विवरणों में काश्मीर की जलवायु का स्पष्ट उल्लेख केवल अल्बिरूनी ने किया है । मार्च से मई के प्रारंभ तक यहां शीतल वसन्त ऋतु होती है, बादाम के शगूफे खिलते हैं, चिनार, सफेदा और दूसरे वृक्षों पर नई पत्तियां आती हैं, और फल-फूलों से पेड़ लद जाते हैं, और चतुर्दिक ताज़ी हरियाली का अपार वैभव दृष्टिगोचर होने लगता है । बीच-बीच में हल्का मेंह बरसता है, जिससे ठंडक बढ़ जाती है । मई से सितम्बर तक काश्मीर में इंग्लिस्तान जैसी गरमी पड़ती है । धूप जितनी ही तीव्र होती है, छांह उतनी ही शीतल और सुखद होती है । श्रीनगर के आसपास बहुत-से नम्बल होने के कारण वायु में एक विचित्र-सा क्षोभ रहता है, जिससे अतरिया ज्वर पैदा होता है । बारिश बहुत नहीं होती और वातावरण में साधारण नमी रहती है । पतझर का दृश्य सुहावना होता है । चिनार के पेड़ लाल हो जाते हैं । समूची घाटी का वर्ण हरे से सुनहला-लाल हो जाता है । परन्तु पतझर का अन्त होते ही शीतकाल आ धमकता है । अक्टूबर के मध्य तक चतुर्दिक के पर्वतों पर बरफबारी शुरू हो जाती है । नवम्बर में घाटी में पाला जमने लगता है । फिर दिसम्बर तक घाटी

पर हल्का कुहरा छाया रहता है जिससे ठंड के साथ-साथ सूर्य की किरणें भी घाटी में प्रवेश नहीं कर पातीं। बड़ा दिन आने के लगभग सारी घाटी में बरफ़वारी शुरू हो जाती है। प्रारंभ में दो-एक बार हल्की बरफबारी होती है। फिर इतना बरफ़ गिरता है कि दो महीने तक सारी पृथ्वी बरफ़ की मोटी तह के नीचे दब जाती है। सारी घाटी धुली चांदनी से भी ज्यादा श्वेत-ही-श्वेत दिखाई देती है। तापमान हिमांक से कुछ डिग्री नीचा रहता है। वायु में अत्यन्त शीतल नमी होती है, जो अप्रिय लगती है। जिस कुहासे से बरफ बनकर गिरती है, वह सारी घाटी पर कुछ ऊपर आच्छादित रहता है। यदि हवाई जहाज से बानहाल के ऊपर जायं तो नीचे कुहासे की मोटी चादर बिछी दिखाई देगी और ऊपर खुला नीला आसमान। यदि कभी यह चादर कहीं से फट जाती है तो तेज ठंडी हवा भीतर घुस आती है और झील और चश्मों तक का पानी जम जाता है। इसे काश्मीरी में 'कटकुश' कहते हैं। फरवरी के अन्त तक या मार्च के मध्य तक बरफबारी बन्द हो जाती है, बरफ पिघलने लगती है और वसन्त ऋतु प्रारंभ होती है।

३. काश्मीर-राज्य के अन्य प्रदेश

[मैदान और बाह्य पर्वत-शृंखलाओं का क्षेत्र]

वर्तमान काश्मीर राज्य की सीमा में घुसने पर तीन-चार मील से बीस मील तक की चौड़ाई का जो मैदान मिलता है वह पंजाब के मैदानों का ही प्रसार है। यहां कुओं के चारों ओर या अलग इक्के-दुक्के कम घनी पत्तियों के

बाह्य मैदान

छोटे वृक्ष हैं। जमीन कहीं ऊसर है, कहीं उर्वर। लेकिन आम-तौर पर इस मैदान का दृश्य उदास और अप्रिय है। यह अत्यन्त शुष्क प्रदेश है, पंजाब से भी कम नमी यहाँ की वायु में है। कारण, पहाड़ियों से जो नाले आते हैं वे सौ फुट से भी ज्यादा गहरे हैं और मैदान के सारे पानी को बहा ले जाते हैं। हिमालय की पूर्वी तराइयों से यह मैदान एकदम भिन्न हैं।

इस मैदान के बीच से जो नाले बहते हैं वे बाह्य पर्वत-शृंखला के दूसरे या तीसरे धारों से आते हैं। कई सौ गज़ से एक-एक मील की चौड़ाई के हैं। अक्सर उनका तल बालू का है और उनमें एक जंगली घास उगती है जिसे 'खर' कहते हैं। जहां पर 'खर' ज्यादा पैदा होती है वहां पर काले हिरन ज्यादा मिलते हैं।

इन नालों के बीच के पठारों पर खेती होती है। रावी से चिनाब तक ७० मील लम्बा मैदान है जिसमें उझ और तवी नाम की दो नदियां बहती हैं। ये

नदियां १३-१४ हज़ार फुट ऊंचे पर्वतों से आती हैं। उम्फ पहाड़ों में लगभग ५० मील और तवी लगभग ८० मील बहकर मैदान में प्रवेश करती है। जम्मू नगर वाह्य पर्वत-शृंखला के नीचे तवी के तट पर बसा है। ऐसे ही स्थान पर जसरौटा नगर उम्फ के तट पर बसा है। बरसात और जाड़ों की बारिश के बाद इन नदियों में जबर्दस्त बाढ़ आती है। इन दोनों नदियों में से नहरें निकाली गई हैं, जिनसे कई स्थानों पर भूमि अधिक उपजाऊ हो गई है।

चिनाब पहाड़ों से निकलकर अख़नूर नगर के पास मैदान में प्रवेश करती है। अख़नूर से ऊपर चिनाब नाव्य नहीं है। अख़नूर के पास चिनाब की कई धाराएं हो जाती हैं जो बिजवात के इलाके की सिंचाई करती हैं। इस इलाके का कुछ भाग काश्मीर राज्य में है और कुछ पाकिस्तान में।

चिनाब के पश्चिम का मैदान वैसा ही है जैसा रावी और चिनाब के बीच में है।

मिनावर और बरनाली गांवों के आगे भिम्बर तक का क्षेत्र एकदम खुश्क है। यहां नाले सूखे पड़े रहते हैं। परन्तु 'मिनावर तवी' जो रजौरी के पीछे रतन-पंचाल से निकलती है, पूरे साल बहती रहती है। भिम्बर के निकट नालों की संख्या बढ़ जाती है।

भिम्बर के सामने दक्षिण की ओर पाकिस्तान के इलाके में खारियान नाम की पहाड़ियाँ हैं जो देखने में यद्यपि वाह्य-पर्वतों-सी हैं, परन्तु हिमालय की शाखा नहीं हैं, क्योंकि उनका रुख उत्तर-पूरब से दक्षिण-पश्चिम की दिशा में है। वे पाकिस्तान की नमक-श्रेणी का हिस्सा हैं। भिम्बर और इन पहाड़ियों के बीच में १२ मील का चौड़ा मैदान है। भिम्बर के आगे झेलम तक चौरस मैदान है।

वाह्य पर्वत-शृंखला

इस मैदान के आगे लगातार एक के बाद दूसरे नीचे थार (ridges) मिलते हैं। ये थार मैदान और ऊंचे पर्वतों के बीच में हैं। इन थारों को काटते हुए अनेक नाले हैं। कुछ थारों पर जंगल हैं। इसे ही वाह्य-पर्वतों का प्रदेश कहते हैं।

इस प्रदेश का स्थानीय नाम 'कंडी' है, जिसका अर्थ 'किनारा' होता है। इसके आगे के प्रदेश को 'पहाड़' कहा जाता है। वैसे 'पहाड़' का अर्थ पहाड़ होता है परन्तु स्थानीय प्रयोग में ऊंचे पर्वतों के नीचे वाले पर्वतों को 'पहाड़' नाम दिया जाता है। उन्हें मध्य-पर्वतों की शृंखला कह सकते हैं। इस वाह्य-पर्वतों की दक्षिणी सीमा को फ़ारसी में 'दामने-कोह' पुकारते हैं। यह सीमा अत्यन्त तीव्र

इस प्रदेश में वर्ष में दो फसलें काटी जाती हैं। रवी की फसल (गेहूं-जौ आदि) दिसम्बर में बोयी जाती है और अप्रैल में काटी जाती है। खरीफ़ की फसल (मक्का, बाजरा, धान आदि) जून में बोयी जाती है और सितम्बर-अक्टूबर में काटी जाती है। रजौरी के पास स्यालसुई आदि में वर्षा के जल से ही धान पैदा किया जाता है, अन्यथा अन्यत्र सिंचाई से। कहीं-कहीं केला और गन्ना भी होता है। पुंछ में भी केला और गन्ना बोया जाने लगा है यद्यपि पुंछ ३३०० फुट की ऊंचाई पर है।

चिनाब के पूरब में मैदान की आबादी घनी है, परन्तु पहाड़ियों पर बहुत कम लोग बसते हैं। नीची सपाट मिट्टी की छतों के घर होते हैं, दीवारों पर गोबर और भूसे का लीपना होता है। घरों में खिड़कियां नहीं होतीं।

बाह्य-पर्वतों के स्थान

इस प्रदेश में सबसे पूर्व में बसोली है। यह पहले एक छोटा पहाड़ी राज्य था। वहां आज भी पुराने राजप्रासाद की बड़ी इमारत निर्जन पड़ी है। नगर भग्न हो रहा है। केवल काश्मीरियों के व्यापार के कारण यह स्थान एकदम वीरान नहीं हुआ है। यहां पहाड़ी पर जंगल के किनारे लाल मुंह के बन्दरों की बहुतायत है।

बसोली

बसोली से एक मंजिल उत्तर में बलावर है। यह नगर बसोली के राजाओं की प्राचीन राजधानी था। इस स्थान पर पहाड़ी जंगल के नीचे से एक बरसाती नदी बहती है। बहुत-सी मीनारों और प्राचीरों के भग्नावशेष हैं और एक 'शिवद्वारा' भी है। इस शिवद्वारे में पत्थरों पर खूब खुदाई का काम किया हुआ है। आजकल बलावर एक साधारण गाँव से बड़ा नहीं है।

बलावर

पादू बलावर से कुछ दूर पर है। पहले यह पाल वंश के राजाओं की राजधानी था। पादू, कुलू, भद्रवाह, बलावर और बसोली के पहाड़ी राजा एक दूसरे के निकटवर्ती थे और आपस में लड़ते रहते थे।

पादू

यहाँ से कुछ मील पश्चिम में रामकोट है। पहले जम्मू के राजाओं के अधीन कोई सामन्त-वंश यहां रहता था। इसका प्राचीन नाम मानकोट था। यहां एक बड़ा-सा दुर्ग है।

रामकोट

रामकोट से कुछ मील उत्तर में रामनगर है। यह नगर एक तिकोने पठार पर बसा हुआ है। संभवतः पहले यह बन्द्राल्ता प्रदेश की राजधानी था। मियां

(राजपूत) लोगों की वन्द्राल जाति उस पर राज करती थी।

रामनगर सिखों ने वन्द्राल राजा को निकालकर जम्मू के राजा के छोटे भाई सुचेतसिंह को यह स्थान दे दिया। ठाकरों ने इसका घोर विरोध किया, परन्तु असफल रहे। यह स्थान पहले कभी वैभवपूर्ण रहा होगा। वन्द्राल मियाँओं के घरों के खंडहर इस समय भी मौजूद हैं। सुचेतसिंह के समय से रामनगर एक प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र बन गया है। उनकी मृत्यु के बाद सन् १८४३ ई० में यह प्रदेश जम्मू के राज्य में मिला लिया गया।

ऊधमपुर मध्य-पर्वतों की शृंखला से इधर की 'दून' में बसा हुआ है।

ऊधमपुर महाराज गुलाबसिंह के पुत्र मियां ऊधमसिंह ने इसे बसाया था। तवी नदी से एक नहर ऊधमपुर होकर जाती है।

ऊधमपुर से चार मील की दूरी पर किरम्ची है। यह पटियाल जाति के मियां राजपूत राजाओं का स्थान था। १८३४ ई० में जम्मू के

किरम्ची राजा गुलाबसिंह ने उसे हस्तगत कर लिया था। यहां एक टूटा-फूटा दुर्ग भी है।

जम्मू से दो मंजिल पूरब में तीन-चार स्थान और हैं— दंसाल दून में।

बबोर बबोर तवी के बायें तट पर है। वहां गणेश के तीन प्राचीन मन्दिरों के अवशेष हैं।

पुरमण्डल दंसाल दून में एक पवित्र स्थान है। प्रतिवर्ष यात्री स्नान के लिए वहां जाते हैं। देवक नाले की पहाड़ी से होकर उत्तर वैन होते हुए पुर-मण्डल का मार्ग है। देवक एक पवित्र नाला है और उत्तर वैन

पुरमण्डल भी एक तीर्थस्थान है। यहां दो मन्दिर हैं। पुरमण्डल का महत्व हरिद्वार जैसा है। वहां अनेक मन्दिर हैं।

पुरमण्डल से कुछ मील पर सरोंईसर और मानसर झीलें हैं। दोनों में केवल आठ-दस मील का अन्तर है। ये झीलें लगभग दो हजार फुट की ऊंचाई पर हैं। सरोंईसर आधा मील लम्बी और चौथाई मील चौड़ी झील

सरोंईसर और मानसर है और उसके तट पर आम और खजूर के पेड़ हैं। बीच में एक छोटा-सा द्वीप भी है। उस पर भी इन पेड़ों की बहुतायत है! मानसर ज्यादा बड़ी झील है—तीन-चौथाई मील लम्बी और आधा मील चौड़ी। चारों ओर से पहाड़ियों से घिरी है, केवल एक दिशा में गहर नाले का कगार है।

चिनाव के पश्चिम में स्थित अखनूर से ४० मील और पश्चिम में भिम्बर

के पुराने राजा का दुर्ग है जो पुराने पीर पंचाल के राजमार्ग पर स्थित है। मुग़ल बादशाह इसी मार्ग से काश्मीर जाते थे। इस मार्ग में अनेक सरायें हैं। स्वयं भिम्बर में एक मुग़लकालीन सराय है। इस मार्ग में दूसरी मंज़िल पर सैदाबाद की सुन्दर सराय है। इसके आगे नौशहरा और चंगस में सरायें हैं।

भिम्बर

रजौरी या रामपुर चंगस के आगे है। यहाँ पुराना दुर्ग है और मुग़लकालीन सराय और शाही बाग़ है। दो बारादरियाँ और हम्माम भी है। अगली सराय थाना स्थान पर है। और पोशियाना गांव में सराय के खंडहर हैं। पीर पंचाल के बाद अलियाबाद की सराय है और काश्मीर की ओर इस मार्ग पर दुब्जी, हुरपुर, शाहजूमर्ग और खानपुर आदि में सरायें हैं।

रजौरी

बाह्य-पर्वतों में भिम्बर के बाद समानी है जहां एक प्राचीन मंदिर है जिसकी स्थापत्य कला बबोर के मन्दिर जैसी है।

मीरपुर आगे मीरपुर है जो जम्मू के बाद सबसे बड़ा नगर है।

बाह्य-पर्वतों के प्रदेश के पश्चिम-उत्तर में पुंछ सबसे महत्वपूर्ण नगर है। पुरानी रियासत है। सन् १८४६ के बयनामा के अनुसार पुंछ भी जम्मू के राजा को मिला था। यह नगर दो घाटियों के संगम-स्थल पर बसा हुआ है। यहां एक दुर्ग और राजप्रासाद है।

पुंछ

चिनाब के दोनों ओर बाह्य-पर्वतों के प्रदेश में किले बने हुए हैं। ये किले उस जमाने के हैं जब इस प्रदेश में हर छोटे-से क्षेत्र का एक राजा होता था। अक्सर ये किले किसी पहाड़ी के शिलाखंड पर स्थित हैं। अब इन किलों में जम्मू के राजा की फौजी टुकड़ियां रहती हैं। इन किलों में से आजकल झेलम पर स्थित मंगलकोट, नानशहरा के निकट मंगलदेव और कोटली के निकट ट्राट के दुर्ग अधिक महत्वपूर्ण है।

४. मध्य की पर्वत-शृङ्खलाओं का प्रदेश

मध्य की पर्वत-शृंखलाओं का प्रदेश बसोली के आठ-दस मील उत्तर से शुरू होता है और रामनगर, रियासी और रजौरी आदि नगरों के उत्तर से होता हुआ आगे मुज़फ़्फ़राबाद की ओर को उत्तर-पश्चिम की दिशा में मुड़ जाता है। यह प्रदेश दो पर्वत-शृंखलाओं में बांटा जाता है—पहली तो वह जो दक्षिण-पश्चिम से

आकर किश्तवाड़ में समाप्त होती है, और दूसरी पीर-पंचाल की पर्वतमाला जो काश्मीर घाटी की दक्षिण सीमा पर है।

पूरब में यह शृंखला ४० मील चौड़ी है, रजौरी के पास केवल १० मील और पश्चिम-उत्तर की ओर पुनः चौड़ी हो जाती है। नालों और घाटियों से बीच-बीच में कटे हुए पर्वतों का विशाल जमघट इस प्रदेश में हैं। घाटियां इतनी संकुचित है कि बीच में कोई चौरस पठार या जगह नहीं है। इन पर्वतों की ऊंचाई ४ हज़ार से १२ हज़ार फुट की है, परन्तु कुछ घाटियां इस धरातल से नीची भी है और कुछ पर्वत-शिखर १२ हज़ार फुट से ऊंचे भी हैं।

वाह्य-पर्वतों के प्रदेश में अधिकतर थार समानान्तर थे, परन्तु मध्य के पर्वतों में थार उल्टे-सीधे, पेड़ की टहनियों की तरह हर जगह से फूट निकलते हैं। इसके प्रधान थार पर्वतीय जलाश्रय के शृंग हैं।

इस प्रदेश में जहां कहीं भी संभव है खेती की जाती है। खेती वर्षा पर ही निर्भर करती है, सिंचाई पर नहीं। पानी की बहुतायत है, फिर भी धान उगाने के लिए पानी पर्याप्त नहीं होता। निम्नतर भागों में वर्ष में दो फसलें बोयी जाती हैं।

इस समूचे प्रदेश पर बरफबारी होती है। निचले भाग में बरफ गिरकर शीघ्र पिघल जाता है। ऊपर के हिस्सों में बरफ़ पाँच-छै महीनों तक जमा रहता है। इस अन्तर के कारण नीचे और ऊपर के हिस्सों के रहने वालों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों में बड़ा फर्क आ गया है।

रामनगर से उत्तर में ८ हज़ार फुट ऊंचा मध्य के पर्वतों का पहला विशाल थार है। इस थार के निचले भाग में बलूत, चेस्ट नट (Horse-chestnut) और सदाबहार के जंगल हैं। ऊपरी भाग में देवदार और चीड़ के वन हैं। इस थार से उत्तर की दिशा में तवी की उत्तरी घाटी के पार एक और बड़ा थार दिखाई देता है, जिसके शिखर विशाल शिला-खंडों के हैं—लगभग दस-बारह हज़ार फुट ऊंचे। इस पर्वतमाला से अनेक शाखाएं फूटती हैं जिनपर जंगल या चारागाह हैं।

भद्रवाह का मार्ग

घाटी में तवी नदी के तट के थिलरू गाँव से आगे उत्तर में ये दोनों थार मिल जाते हैं और नदी का तल ऊंचा उठता जाता है। तवी के किनारे-किनारे उसके उद्गम वाले पर्वतीय जलाश्रय तक जाने पर दूसरी ओर भद्रवाह की घाटी दृष्टि-गोचर होने लगती है।

मार्ग में देवदार, सनोवर और चीड़ के सुन्दरतम वन हैं। ऊपर एक

१३५०० फुट का शिखर है जो गर्मियों में भी बरफ़ से ढंका रहता है। इस स्थान पर सनोवर वृक्ष की एक किस्म को 'रान' और दूसरी किस्म को 'तोस', देवदार को 'धार', उसकी दूसरी किस्म को 'कायरु', बलूत को 'क्रेऊ' और चीड़ को 'च्रू' या 'कदूर' पुकारते है। इस स्थान का स्थानीय नाम 'शिवजी' है। यहाँ आकर दो धार मिलते है और यहाँ से ही तवी नदी निकलती है। तवी की दक्षिणी धारा 'कलीकुंड' से और दूसरी धारा 'सेवलधार' दर्रे (१०६०० फुट) के निकट से निकलती है। यह दर्रा बरफ़ के कारण वर्ष में तीन महीनों के लिए बन्द रहता है। उस पार भद्रवाह नाम की सुन्दर उपत्यका है। इस घाटी के उत्तर की सीमा के पर्वत १७-१८ हज़ार फुट ऊंचे है और स्थायी बरफ़ से ढंके हैं।

सेवलधार दर्रे से ५ हज़ार फुट नीचे भद्रवाह की समतल घाटी (५४०० फुट) है—एक मील चौड़ी और चार मील लम्बी। भद्रवाह नगर में लगभग छै-सात सौ घर है। इतनी छोटी आबादी के लिए यह उपत्यका काफी बड़ी है। यहाँ देवदार की लकड़ी के मकान हैं। कभी-कभी तख्तों की दीवार के बीच में मिट्टी या ईंटें भर दी जाती हैं।

भद्रवाह

भद्रवाह मे एक खुला, लम्बा बाज़ार है जो किले तक जाता है। दो-तीन बाजार और है। दो मसजिदें है और एक बड़ा मन्दिर है। एक झरने का पानी नगर के बीच से प्रवाहित होता है और उसकी शाखाएं गलियों तक में पानी पहुंचाती हैं। सेव, नासपाती, तूत, खूबानी और गिलास के फलों के बाग़ हर तरफ़ है और सफ़ेदा और चिनार के पेड़ है।

दोनों देशों में इतनी समानताएं हैं कि भद्रवाह को आमतौर पर 'छोटा काश्मीर' कहकर पुकारते है।

भद्रवाह में आधे से ज्यादा बसने वाले काश्मीरी है, जो वहाँ पर पाँच-सात पीढ़ियों से रहते है। ये लोग शाल बुनते है, दुकान करते हैं और कुछ लोग खेती भी करते है। भद्रवाह में जीवन-निर्वाह सस्ते में हो जाता है, इस कारण गर्मियों में बहुधा गोरखे वहाँ सपरिवार जाते है।

नगर से तीनसौ फुट की ऊंचाई के एक शैल-बाहु पर एक चौकोर किला है। पास में प्राचीन राजप्रासाद के अवशेष हैं। भद्रवाह के राजा मियाँ राजपूत होते थे और बसोली और कुलू के राजाओं के संबंधी थे। सन् १८१० में चम्बा के राजा ने भद्रवाह को अपने इलाके में मिला लिया। बाद में सारे इलाके को गुलाबसिंह ने जम्मू के अन्तर्गत कर लिया।

भद्रवाह को हिन्दू लोग 'भद्रकाशी' भी पुकारते है। नदी के दूसरे तट पर एक मठ बना हुआ है।

भद्रवाह के पर्वतों का सारा पानी चिनाव में जाता है। लाहौल के प्रदेश में चिनाव दो धाराओं में ऊपर उठती है। एक धारा को 'चन्द्र' और दूसरी को 'भाग' कहते हैं। इसी कारण हिन्दू अक्सर चिनाव को 'चन्द्रभाग' के नाम से पुकारते हैं। चिनाव नाम संभवतः मुसलमानों का दिया हुआ है; चिन + आव, अर्थात् चीन का पानी। वास्तव में चीन के आधीन देश के निकट से ही चिनाव निकलती है और सबसे पहले लाहौल के प्रदेश में बहती है। लाहौली चीनी लोगों के निकट हैं। उनकी भाषा, धर्म और आकृति चीनियों से मिलती-जुलती है।

चिनाव की घाटी

लाहौल के बाद चिनाव पाँगी से गुजरती है। पांगी चम्बा प्रदेश का भाग है। फिर पाडर जिले में पहुँचती है। इसके बाद २५० मील तक मध्य के पर्वतों और बाह्य-पर्वतों के प्रदेश में बहकर मैदान में प्रवेश करती है।

किश्तवाड़, जंगलवाड़ और अरनास के प्रदेशों में चिनाव के मोड़ अत्यन्त तीव्र हैं। इन तीनों स्थानों पर उसमें क्रमशः वर्दवन, साल ने और भुजवार नाम की नदियाँ मिलती हैं।

रामबन के पास भी चिनाव तीव्रता से सिंगीपाल नाम के शैल-बाहु के किनारे से मुड़ती है। वहां उसमें बानहाल का नाला आकर मिलता है।

चिनाव के तट पर ध्यानगढ़, सलाल, आरनस, गजपत, और डोडा के किले हैं।

किश्तवाड़ की घाटी (५४०० फुट) उत्तर से दक्षिण को चार मील लम्बी और पूरब से पश्चिम को दो मील चौड़ी है। उसके चारों ओर ऊंचे पर्वत हैं। घाटी में फल-फूलों की बहुतायत है। खेती हर स्थान पर होती है। नगर के पास एक मैदान है जिसे 'चौगान' पुकारते हैं। पहले यह स्थान पोलो खेलने के लिए था। आजकल इस पर हॉकी खेलते हैं। पश्चिम की दिशा में १२०० फुट गहरे नाले में से एक नदी बहती है। यह नदी पश्चिम की ओर से जल-प्रपात के रूप में घाटी में उतरती है। यह प्रपात ढाई हज़ार फुट ऊंचा है; पानी कई छलांगें मारकर नीचे गिरता है। पहली दो छलांगें पांच-पांच सौ फुट की हैं। इसके बाद दो-तीन छोटी छलांगें हैं। फिर पानी असंयमित ढंग से झरनों के रूप में नीचे उतरता है। इस प्रपात का गर्जन दो मील तक सुनाई देता है। सुबह को जब सूरज की किरणें उछलते हुए पानी की बूंदों पर पड़ती हैं तो इन्द्रधनुषी रंग बिखर जाते हैं। लोग कल्पना करते हैं कि उस समय वहां परियाँ नहाती हैं और ये इन्द्रधनुषी रंग उनके शरीरों के हैं।

किश्तवाड़

किश्तवाड़ का छोटा-सा नगर गन्दा और टूटा-फूटा सा है। केवल दो-ढाई सौ घर हैं। एक बाज़ार में कुछ दुकानें हैं। ग़रीबी अत्यधिक है। यहां वज़ीर परिवार की जागीर है। यहां भी आधे से ज्यादा निवासी काश्मीरी हैं, बाकी ठाकर, क्कार आदि जातियों के हिन्दू हैं। जलवायु भद्रवाह के समान है। सेव, बिही, तीन प्रकार की नासपातियां, किशमिश, खूबानी, गिलास, आड़ू, अंगूर, शहतूत और बादाम के फल पैदा होते हैं।

किश्तवाड़ पहले राजपूत राजाओं द्वारा शासित था, जो शायद पूर्णतः स्वतंत्र थे। तीनसौ वर्ष पहले एक राजा भगवानसिंह था जो दिल्ली के बादशाह से युद्ध कर बैठा पर मामूली लड़ाई के बाद ही परास्त हो गया। बादशाह ने उसे मंत्रणा देने के लिए जीवनपाल और कहनपाल नाम के दो खत्री वज़ीर रख दिए।

भगवानसिंह का प्रपौत्र गीरतसिंह औरंगज़ेब के समय में मुसलमान हो गया। औरंगज़ेब ने उसे 'राजा सआदत यार खां' की उपाधि दी। गीरतसिंह के बाद भी उसके वंशजों के हिन्दू नाम ही होते थे, जैसे अस्लूकसिंह, मिहरसिंह, सुजानसिंह आदि, और उन्हे दिल्ली दरबार से सआदतमंद खां, सईदमन्द खां आदि की उपाधियां मिलती जाती थीं।

अन्तिम राजा तेगसिंह का वज़ीर लखपत अपने स्वामी से लड़कर राजा गुलाबसिंह के पास जम्मू गया। गुलाबसिंह ने अकारण ही हमला कर दिया और तेगसिंह ने बिना युद्ध किये ही जम्मू की आधीनता स्वीकार करली।

चिनाब के तट से ऊपर की दिशा में चलने पर किश्तवाड़ के आगे पाडर का प्रदेश है। चिनाब इस मार्ग में बहुत ऊंचे पर्वतों के बीच से गुज़रती है।

पाडर

पाडर जाते समय किश्तवाड़ से चार मंजिल पर अथोली है। अथोली पाडर में है। एक मंजिल पहले 'सिरी' से 'ब्रमा' की पांच चोटियां दिखाई देती हैं जो २०-२१ हज़ार फुट ऊंची हैं। ये चोटियां तीखे खड़े शिलाखंडों की हैं, इस कारण उन पर कहीं बरफ ठहरता है कहीं पर नहीं ठहरता। वहां से एक गर्त्त में होकर सिरी की ओर एक विशाल तुषार-नद आता है। यह पाडर घाटी के दक्षिण में है। उस ढाल पर जो नदी तक जाता है, वहां अनेक गांव हैं।

पाडर का इलाका चिनाब घाटी में सिरी से आगे पांगी की सीमा तक है। पांगी चम्बा प्रदेश में है। पाडर का इलाका तीस मील लम्बा है। उसमें भटना नदी की घाटी भी सम्मिलित है। पाडर चारों दिशाओं से चिरस्थायी बरफ़ के पर्वतों से घिरा हुआ है। अथोली और उसके आसपास चार मील तक थोड़े-से गांव बिखरे हुए हैं जिनमें कुल चार-पांच सौ घर हैं।

अथोली (६३६० फुट) पाडर का प्रमुख स्थान है, और एक ऊंचे पठार पर स्थित है।

चिनाव में जहां पर भटना मिलती है, वहां एक पुराना छोटा-सा किला है, और प्राचीन नगर 'छतरगढ़' के ध्वंसावशेष हैं । कहीं-कहीं पेड़ों के बीच मन्दिर और मठ भी हैं।

पाडर की जलवायु कठोर है । बहुत बरफ़ गिरती है और तीन-चार महीनों तक जमी रहती है । चतुर्दिक पर्वतों और आये-दिन के बादलों के कारण धूप भी कम होती है । अक्सर बादाम के पेड़ होते हैं। वैसे फल आमतौर पर अच्छे नहीं पकते । यहां सफेद जीरा पैदा होता है जिसे पाडर-निवासी जम्मू ले जाकर बेचते हैं। पंजाब के लिए देवदार के लट्ठे काटकर बहाये जाते हैं।

यहां दक्षिण की पहाड़ियों से पूस-माघ में बड़े-बड़े बरफ़ के तोदे (avalanches) गिरते हैं जो अपने साथ ऊपर से बड़ी-बड़ी शिलाओं और वृक्षों को लुढ़का लाते हैं।

पाडर के अधिकांश निवासी ठाकर जाति के हैं। मेघ आदि नीच जातियां भी हैं। कुछ मुसलमान भी हैं। भटना के पास कुछ झोंपड़ियां भोट या बौद्धों की हैं जो ज़ांस्कार से आकर बस गए हैं ।

पाडर-निवासी नाग-पूजा करते हैं। एक गरम पानी के गन्धक के चश्मे के पास जिसका तापमान १३१ डिग्री है, एक स्नान-गृह और धर्मशाला बनी हुई है। वहां पर नागदेवताओं के मन्दिर हैं।

लगभग तीनसौ वर्ष पूर्व जो लोग पाडर पर राज्य करते थे उन्हें 'राना' पुकारा जाता था। संभवतः तब हर दूसरे-तीसरे गांव में एक राना होता था। चम्बा के राजा छतरसिंह ने लगभग १६५० ई० में पाडर पर कब्जा कर लिया। अथोली के पार उसने छतरगढ बसाया और एक किला बनवाया।

सन् १८३४ ई० में जम्मू के राजा के जनरल जोरावरसिंह ने लद्दाख पर आक्रमण करते समय चम्बा को भी हस्तगत कर लिया।

पाडर में ही 'भटना' की घाटी भी सम्मिलित है। बरफ़ के पर्वतों से उतर कर यह घाटी चिनाव की घाटी से मिल जाती है। ज़ांस्कार

भटना : जाने के लिए पाडर से भटना होते हुए 'उमासी-ला' नाम के बर्फ़ीले दर्रे को पार करके जाना होता है।

भटना में भी बड़े-बड़े बरफ़ के तोदे (avalanches) गिरते हैं, विशेषकर हमूरी गांव के निकट। हमूरी के पास एक जल-प्रपात भी है। भटना घाटी का

सबसे ऊंचाई पर बसा गांव मक्केल (६७०० फुट) है जो अथोली से २२ मील दूर है। मक्केल से आधी मील पर सुंजाम है (११०० फुट) जहां पर सिर्फ एक-दो भोट परिवार ही रहते है। बरफ़ के कारण उन्हें वर्ष में सात महीने घर के भीतर बन्द रहना पड़ता है। सुंजाम में भोट परिवार गेहूं, मटर और जौं आदि की खेती करता है।

पश्चिम के मध्य-पर्वत

चिनाव के पश्चिम में 'पौनी' के पीछे एक थार है जिसे 'द्रगरी थार' कहते हैं। यह परंपरा के अनुसार 'द्रगर' नाम के देवता का स्थान है। ये पर्वत बूदिल के प्रदेश में हैं जिसमें होकर 'अंस' नदी बहती है। यहां पहाड़ी जाति के लोग बसते हैं। इसके आगे पीर-पचाल की पर्वतमाला है।

द्रगरी थार के पास लोहा निकलता है, जिसे स्थानीय 'घ्यार' लोग तपाते हैं। ये लोग कोई नया काम करने के पूर्व थार के उस स्थान पर जाते हैं जहां एक वेदी बनी है। वहां जाकर द्रगर देवता पर बलि चढ़ाते हैं। एक बकरी काट कर वेदी के आगे घी जलाते हैं। घी जल जाने पर बकरी को स्वयं खा लेते हैं और लोहे के जिस चमचे में घी जलाते हैं उसे वहीं छोड़ देते हैं।

द्रगरी थार के आगे पीर पंचाल की पर्वत-शृंखला है, जो उच्च-पर्वतों की ही एक शाखा है। पीर पंचाल का वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

५. उच्च पर्वत-शृंखलाओं का प्रदेश

काश्मीर राज्य के उच्च पर्वत-शृंखलाओं के प्रदेश को नक्शे पर यदि पूर्वोत्तर भाग से देखना प्रारम्भ करें तो पहले हमें क्वेनलुन और लिग्ज़ीथांग के १६-१७ हज़ार फुट ऊंचे मैदान मिलेंगे, जो २०-२१ हज़ार फुट ऊंची पर्वत-मालाओं से घिरे हुए हैं। इन मैदानों की उत्तरी सीमा पर क्वेनलुन पर्वतमाला है। मैदानों के पश्चिम में एक महान् पर्वत-शृंखला है जिसका नाम मुस्ताग या काराकोरम है। ये दोनों नाम प्रयोग में आते हैं; पूर्वी भाग मुस्ताग और पश्चिमी भाग काराकोरम कहलाता है। शायोक घाटी और यारकंद घाटी के उत्तरी भाग में आकर यह पर्वत-माला मध्यस्थ हो जाती है। काराकोरम में अनेक घाटियां हैं परन्तु कोई भी दो मील से ज्यादा चौड़ी नहीं है। पूर्वी भाग में इस पर्वतमाला की ऊंचाई २०-२१ हजार फुट के लगभग है, परन्तु पश्चिम में ये पर्वत और भी ऊंचे हो जाते हैं। २५ हजार फुट तक पहुंचते हैं, और इसकी पश्चिमोत्तर सीमा पर तो २५-२६

हजार फुट के अनेक शिखर हैं। इस पर्वत-प्रदेश में चांगचेन्मो की घाटी का १५ हजार फुट, पांगकांग की घाटी का १४ हजार फुट ऊंचा धरातल है। परन्तु नुब्रा की घाटी केवल १० हज़ार फुट ऊंची है। उसके आगे, जहां शायोक नदी सिंध में मिलती है घाटियों का धरातल ६ और ८ हज़ार फुट ऊंचा ही है। शायोक और सिंध नदी के बीच में लेह की पर्वतमाला है। इस पर्वत की ऊँचाई १६-२० हज़ार फुट है, और कहीं-कहीं ये १७ हज़ार फुट तक नीचे हो जाते हैं।

इसके आगे सिंध घाटी और प्रधान उच्च पर्वतीय जलाश्रय की विशाल शृंखला है। इन पर्वतों की शृंखला अत्यन्त जटिल है। शिखर १८-२० हज़ार फुट ऊंचे हैं, दक्षिण-पूरब की घाटियों का धरातल १५ हज़ार फुट के लगभग है, पश्चिमोत्तर की घाटियां १०-११ हज़ार फुट ऊंची हैं। ये सारी घाटियां काफी संकुचित हैं।

अन्त में पर्वतीय-जलाश्रय की पर्वतमाला है, जो दूर तक २०-२१ हज़ार फुट ऊंची जाती है। यहां पर दर्रे बहुत ऊंचाई पर हैं और विशाल पर्वतीय तुपार-नद हैं। इसी पर्वतमाला के उत्तर-पश्चिम में नन-कुन नाम के शिखर हैं।

६. लद्दाख

श्रीनगर से लद्दाख की राजधानी 'लेह' २५६ मील दूर है, और १६ मंजिलों का रास्ता है। श्रीनगर से काश्मीर घाटी में गांदरबल और सिंधगंगा की घाटी में कंगन होकर मार्ग ऊंचे जंगलों से ढँकी एक मील चौड़ी सुन्दर घाटी में से गुज़रता है। गगनगीर तक पहुँचते घाटी अत्यन्त संकुचित हो जाती है। आगे सोनमर्ग (८६०० फुट) का संकुचित मैदान है। स्थानीय लोग इस स्थान को (थांज़वज़) के नाम से पुकारते हैं। यहां आसपास के पर्वतों के गर्त्तों में बड़े-बड़े तुपार-नद हैं।

लेह का मार्ग

सोनमर्ग से आगे बाल्तल है जहां सिंधगंगा एक समकोण बनाकर दक्षिण की ओर मुड़ जाती है। यहां से अमरावती के किनारे-किनारे एक मार्ग अमरनाथ को जाता है। और पूर्वोत्तर से जो छोटी-सी धारा आती है उसके किनारे चलकर द्रास दर्रे पर पहुँचना होता है।

द्रास की घाटी दर्रे के उस पार है। यह घाटी एक-दो मील चौड़ी और तीन मील लम्बी है। इसकी भूमि समतल नहीं है। यहां द्रास नदी बहती है जो शिलाओं के बीच से निकलती है और शिलाओं की संकुचित दरार में से बाहर को

बह जाती है। घाटी को घेरने वाले ऊंचे पर्वत अधिकतर नंगे और शिलाखंडों से बने हैं जिसके कारण घाटी में नमी नहीं दाखिल हो पाती। पर्वतों पर जंगलों, झाड़ियों या घास का आवरण नहीं है। यहां से लेह तक का सारा मार्ग ऐसे ही अनावृत प्रदेश में से गुजरता है। द्रास में वायु का स्पर्श भी भिन्न है। निर्मल नीला आकाश और सूर्य की तीव्र किरणें वातावरण को सूक्ष्म बना देती हैं। दिन गरम और रातें अत्यधिक ठंडी होती हैं। बाल्तल से द्रास ३० मील की दूरी पर है। दिसम्बर में बरफ के कारण यह दर्रा बन्द हो जाता है।

दर्रे के उस पार १६ मील चलकर मटायन नाम का पहला गांव मिलता है। द्रास के निवासी तीन जातियों के हैं—काश्मीरी, दरद और बाल्ती।

द्रास दर्रा लद्दाख की पश्चिम-दक्षिण की सीमा पर कहा जाता है, परन्तु द्रास के रहने वाले लद्दाखी नहीं हैं—न जाति से, न धर्म से। वे बाल्तियों के अधिक निकट हैं। परन्तु प्राचीन काल में द्रास लद्दाख के शासक के आधीन था। आजकल शासन की सुविधा के लिए बाल्तिस्तान में रख दिया गया है।

द्रास से करगिल ४० मील आगे है। ताशगाम से नीचे स्फटिक शिलाओं का पर्वत प्रदेश है। यहां पर कहीं-कहीं जहाँ घास है, भेड़ों के गल्ले मिलते हैं। वहां पर देवदार और उम्बू या लाल गुलाब की झाड़ियां भी होती हैं। द्रास नदी पश्चिमोत्तर दिशा में सिंधु से मिलने के लिए जाती है। इन नदियों के संगम तक न जाकर एक कोने से सुरू नदी की घाटी में मुड़ना पड़ता है। इस घाटी में थोड़े से गांव हैं, उन सबको मिलाकर उसे करगिल पुकारते हैं। यहां के गांव लगभग ९ हज़ार फुट की ऊंचाई पर है। करगिल में द्रास की अपेक्षा कम बरफ गिरती है। गेहूं और जौ पैदा होता है और पानी के किनारे शहतूत, खूबानी आदि फल और बेद और सफेदे के वृक्ष होते हैं।

करगिल से पांच मील पर पास्किम नाम का बड़ा गांव है जहां गांव से १ हज़ार फुट की ऊंचाई पर एक प्राचीन किले के ध्वंस है। यहां से १५ मील आगे संकुचित घाटी में शरगोल है। यह पहला स्थान है जहां पर बौद्ध मठ है। लद्दाखी में मठ को गुन्पा कहते हैं। यहां अधिकांश बौद्ध रहते हैं, और कुछ बाल्ती मुसलमान।

अगले पड़ाव मुल्बेक (मुल्बे) में एक बौद्ध मठ है और सड़क के किनारे की चट्टान में बुद्ध की एक विशाल मूर्ति खुदी हुई है। इसके पश्चात् नामिक-ला दर्रे (लद्दाखी में दर्रे को 'ला' कहते हैं) के पार खरबू है जो एक भोट गांव है। लद्दाखी भोट कहलाते हैं जिसका तात्पर्य 'तिब्बती बौद्ध' होता है। खरबू के बाद

पुनः एक दर्रा पार करना पड़ता है—फोतू-ला (१३४०० फुट) । वहां से दो हज़ार फुट नीचे उतरकर लामायूरी है । यह एक भोट स्थान है और यहां एक बड़ा बौद्ध मठ है । यहां से नीचे उतरने पर वाल नदी की संकुचित घाटी है । नदी पार करने पर एक-दो मील आगे खाल्सी गांव है । खाल्सी सिंधु नदी के तट पर है और वहां एक लकड़ी का पुल बना हुआ है । ऊपर शिलाखंड पर एक किला है । खाल्सी दस हज़ार फ़ुट की ऊंचाई पर है, परन्तु यहां खेती भी होती है और अखरोट और खुबानी के फल भी ।

यहां से ऊपर लेह तक सिंध घाटी का एक ही स्वरूप है । नदी या तो शिलाओं के बीच से गुज़रती है या मटियाले टीलों के बीच से । ये पहाड़ियां एकदम नंगी और खुश्क हैं । जहां कहीं छोटे-छोटे-से पठार हैं वहां खेती भी होती है । खाल्सी से लेह के लिए दो मार्ग जाते हैं, एक नदी के किनारे-किनारे, और दूसरा उससे लगी पहाड़ियों के पीछे से । आगे दोनों मार्ग बाज्गो में जाकर मिल जाते हैं ।

दूसरे मार्ग से जाने पर सिंध को छोड़कर एक नाले की घाटी में बायीं ओर को मुड़ना पड़ता है, जहां पर पहला पड़ाव 'तिमिसगाम' में मिलता है । अगला पड़ाव 'हिमिस शुक्पा' का गांव है । यहां पर लगभग सौ शुक्पा (pencil cedar) वृक्षों का एक पवित्र कुंज है, और एक दुर्ग या मीनार के ध्वंस हैं । यह किला सोकपोस ने लद्दाख पर आक्रमण करने के बाद १७वीं शताब्दी में बनवाया था ।

आगे येगथंग (नया मैदान) नाम का गांव है । यह नया गांव है, लगभग सवासौ वर्ष पुराना । इसे एक लामा ने बसाया था । यहां एक मठ है जिसमें अनेक लामा रहते हैं । येगथंग से तरुत्से और उसके आगे बाज्गो के गांव हैं । बाज्गो काफी बड़ा गांव है । वहां एक ऊंची शिला पर बौद्ध मठ है । इसके आगे निमू, थारू, फेआंग और पिटक नाम के और गांव मार्ग में पड़ते हैं । इन गांवों में सारी उपजाऊ ज़मीन झरनों के पानी से सींची जाती है, केवल पिटक में सिंध नदी के पानी से सिंचाई होती है । पिटक में कई सौ फुट ऊंची एक शिला है जिस पर प्राचीन इमारतें खड़ी हैं । एक मठ है, दो मीनारों का एक दुर्ग है, जिसकी दीवारें दुहरी हैं । लद्दाख में पहले लोग ऐसी ही ऊंची शिलाओं पर मकान बनाते थे । अब कुछ दिनों से ही मैदान में बसने लगे हैं ।

पिटक से लेह पांच मील है । लेह की घाटी एक समकोण त्रिभुज के आकार की है, जिसकी प्रत्येक भुजा पांच मील लम्बी है । इस त्रिभुज घाटी के एक कोण पर लेह का नगर बसा हुआ है । तीनों दिशाओं में

लेह

शिला-खंडों से बने शैल-बाहु इसे घेरे हुए हैं। इस त्रिभुज का आधार सिंध नदी है और पिटक का गांव एक सिरा। घाटी समतल नहीं है, बल्कि नदी की ओर ढलवां होती जाती है। जहां लेह का नगर है वहां कई सौ एकड़ भूमि उपजाऊ है।

लेह में सबसे दर्शनीय वस्तु वहां के पुराने शासकों का राजप्रासाद है। एक शैल-बाहु पर आठ-दस मंजिल ऊंचा एक विशाल भवन है जिसकी दीवारें भीतर की ओर को झुकी-सी हैं। देखने वाले उसकी दृढ़ता और स्थूल वृहत्‌ता का अनुभव करते हैं। इसी शैल-बाहु पर और ऊपर एक बौद्ध-मठ और पुराने दुर्ग की बुर्जियां हैं। नीचे की ओर राजप्रासाद के सामने के ढाल पर नगर की बस्ती है। अब नया नगर और नीचे मैदान में समतल भूमि पर बसा हुआ है। यहां एक लम्बा बाजार है, मकान सुव्यवस्थित ढंग से बने हुए हैं और उन पर नियमित रूप से सफेदी की जाती है। इस अनावृत भूरे रंग के पर्वत प्रदेश में ये श्वेत घर भव्य लगते हैं और घाटी की एकरसता को भंग करते हैं।

नये बाज़ार के अन्तिम कोने पर पुराना नगर है। यहां पर गलियां संकुचित और टेढ़ी-मेढ़ी हैं। ढाल पर और ऊपर अभिजात वर्ग की हवेलियां हैं, जिन्हें कहलों (मंत्रियों) ने बनाया था और आजकल उनमें उनके वंशज रहते हैं। नगर के बाहर अनेक बाग़ हैं, बेद और सफेदे के। ये बाग़ घनी छाया और घर बनाने के लिए लकड़ी प्रदान करते हैं। लद्दाख में इन दोनों की बेहद कमी है।

लेह और मध्य-लद्दाख के लिए दूसरा मार्ग बाल्तिस्तान से जाता है। मध्य-लद्दाख से तात्पर्य बाल्तिस्तान की सीमा से लेह के ३० मील आगे तक की सिंध घाटी का १०० मील लम्बा प्रदेश है। इस दिशा से

दूसरा मार्ग

बाल्तिस्तान के सनाच और गारकों गांवों से होकर दाह पहुँचते हैं। दाह बाल्तिस्तान और लद्दाख की सीमा पर है। यहां पर हनू नदी सिंध में मिलती है। हनू की घाटी से स्कर्दू होकर भी लद्दाख का मार्ग है। मार्ग में १६७०० फुट ऊंचा चोरबत दर्रा है जो हनू घाटी की दिशा से लद्दाख की सीमा है।

दाह तक लोग दरद जाति के हैं, परन्तु अगले गांव अचीनथंग में लद्दाखी बसते हैं। अचीनथंग एक सुन्दर गांव है। यहां के लद्दाखी लेह के लोगों से ज्यादा लम्बे होते हैं। इसके आगे खाल्सी है जहां श्रीनगर का मार्ग आकर मिलता है। फिर मार्ग में सास्पूल से ऊपर ज़ांस्कार नदी सिंध में गिरती है, और पिटक तक पहुँचते-पहुँचते घाटी का धरातल बहुत ऊंचा उठ जाता है।

लेह में चिरस्थायी पर्वतों की निम्नतर ऊंचाई १८५०० फुट है। लेह के दक्षिण में चुशोत गांव है जहां आधे मील चौड़े और कई मील लम्बे स्थान पर खेती होती है। लद्दाख में इस स्थान पर सबसे बड़ी कृषि-भूमि है। यहां पर कई सौ घर हैं जो यत्र-तत्र खेतों के सहारे बिखरे हुए हैं। सफेदे और वेद के पेड़ होते हैं, परन्तु फल नहीं होते। चूशोत के लोग बाल्ती, भोट और अरगोन जातियों के हैं। बाल्ती संख्या में सबसे ज्यादा हैं। आगे बगल की घाटियों में स्तोक, शान, सावू, चिमरे आदि अनेक छोटे-छोटे गांव हैं। ऐसी ही एक पार्श्ववर्ती घाटी में 'हिमिस' का मठ है, जो लद्दाख में सबसे प्रधान बौद्ध-मठ है। इसमें दो सौ लामा रहते हैं। यह मठ एक शिखर के नीचे बना हुआ है। अनेक इमारतें हैं जिनमें बड़ी खिड़कियां हैं। गलियां चौड़ी हैं और सुन्दर वस्त्रादि और झंडों से सजी हुई हैं। निकट में सफेदा के वृक्षों का एक कुंज है।

सिंध घाटी के इस भाग में उप्शी गांव ग्या नाले के मुख पर स्थित है और मध्य-लद्दाख की सीमा यहीं तक है।

लेह से नुब्रा जाने के लिए लेह-पर्वतमाला को तीन दर्रों में से किसी एक से पार करके जाना होता है। लेह से एक मार्ग झरने के किनारे-किनारे चढ़कर खारडोंग दर्रे से गुज़रता है। यह दर्रा १७ हज़ार फुट ऊंचा है। अक्सर इस पर घोड़े नहीं चढ़ पाते तो 'याक' पर सामान लाद कर ले जाना पड़ता है। दर्रे के उस पार १६०० फुट नीचे तक बरफ जमी हुई है। इस हिम-क्षेत्र के नीचे एक झील है। आगे और भी अनेक झीलें है जो बरफ़ के तोदों (avalanches) के कारण बन गई हैं। और नीचे खारडोंग का गांव है। नाले के सहारे यहां लद्दाख की अद्भुत चीज देखने को मिलती है—झाड़ियों के जंगल का एक टुकड़ा। इस स्थान से शायोक नदी की बड़ी घाटी शुरु होती है। नुब्रा इसी घाटी में स्थित है।

नुब्रा

यह जिला नुब्रा नदी, जो उत्तर-पश्चिमोत्तर की दिशा में बहती है, और शायोक नदी की घाटी के एक भाग से मिलकर बना है। दोनों नदियों के संगम पर नुब्रा की घाटी दो-तीन मील चौड़ी है। मैदान बालू का है और कहीं-कहीं झाऊ बूटी और उम्बू के छोटे-छोटे जंगल हैं। जहां मैदान समाप्त होता है वहां सात-आठ हज़ार फुट ऊंची विशाल नंगी शिलाओं के हठात् खड़े हुए पर्वत हैं जिनके कारण यहां का दृश्य अत्यन्त महान् हो जाता है।

लद्दाख की अपेक्षा नुब्रा का दृश्य अधिक सुहावना है, संभवतः इस कारण भी कि संगम से नुब्रा और शायोक दोनों नदियों की घाटियां एक साथ ही दूर-दूर

तक दृष्टिगोचर होती हैं। उनके गांव, हरियाली छाये छोटे-छोटे बिखरे टुकड़े, सफेदा और बेद वृक्षों के कुंज सभी नज़र आते हैं। यहां कृषि-भूमि बहुत थोड़ी है। गांवों में मठ या मुखिया के घर औरों की अपेक्षा अधिक सुन्दर होते हैं। नुब्रा यारकंद के मार्ग में पड़ता है, इस कारण यहां कुछ खेत यात्रियों के घोड़ों के वास्ते घास उगाने के लिए छोड़ रखे जाते हैं। नुब्रा में लद्दाख की अपेक्षा कम बरफ़ पड़ती है, अन्यथा दोनों स्थानों की जलवायु एक सी है।

जौ यहां का मुख्य नाज है, यद्यपि थोड़ा गेहूँ भी बोया जाता है। कुछ-कुछ सेब, अखरोट, खूबानी आदि फल भी होते हैं और खीरा और तरबूज भी पक जाते हैं। यहां के उन्मारू गांव में सबसे ज्यादा फल होते हैं। नुब्रा नदी के दाहिने तट पर स्थित चिरास गांव सबसे महत्वपूर्ण है। पहले नुब्रा का शासक इसी गांव में रहता था। यह शासक-वंश लद्दाख के 'ग्यल्पो' या राजा के आधीन था। चिरास पर्वत से बाहर को निकली एक १५० फुट ऊंची और २०० फुट लम्बी शिला पर स्थित है। मकानों पर सफेदी की जाती है। यहां सबसे ऊंची इमारत बौद्ध-मठ की है। पहले गांव की रक्षा के निमित्त एक प्राचीर बना हुआ था जिसके अवशेष आज भी मौजूद हैं। इस प्राचीर के भीतर स्थान-स्थान पर बुर्ज बने हुए थे। जिस शिला पर गांव बसा है वह अधिकांश में गोलाकार है—अत्यन्त चिकनी, जैसे तराश कर पालिश की गई हो। इस शिला पर प्राचीन तुषार-नद रहा होगा। ऐसे चिन्ह मिलते हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि कभी चार-साढ़े चार हज़ार फुट गहरी बरफ़ इस घाटी में जमी रही होगी।

इस शिला पर से एक अनुपम दृश्य देखने को मिलता है। नीचे वक्रगति से बहने वाली अनेक धाराओं ने घाटी को अनेक द्वीपों में बांट दिया है। पूरब में मध्य के पर्वतों की शृंखला दृष्टिगोचर होती है जिसके पीछे से २४-२५ हज़ार फुट ऊंचे हिमाच्छादित पर्वत-शिखर नज़र आते हैं। इन पर्वतों का हल्का सलेटी भूरा रंग है।

ज़ांस्कार

ज़ांस्कार लद्दाख का ही जिला है जो लेह से दक्षिण-पश्चिम की दिशा में जलाश्रयी पर्वतों की ओर है। ज़ांस्कारी भी लद्दाखी हैं। सौ वर्ष पूर्व यहां भी एक शासक था जो लेह के 'ग्यल्पो' के आधीन था। ज़ांस्कार तक किसी भी दिशा से पहुँचना अत्यन्त कठिन है। उसके दक्षिण-पश्चिम में चौड़ी हिम मण्डित पर्वतों की शृंखला है और उधर से कोई भी मार्ग नहीं है। केवल उत्तर-पश्चिम में सुरू से और दक्षिण-पूरब में रुशु से मार्ग जाते हैं। लेह से ज़ांस्कार नदी की घाटी के द्वारा जाना असंभव है। इस कारण

पन्द्रह दिन का मार्ग तय करके लामायूरी होकर जाना पड़ता है और अनेक दर्रे पार करने पड़ते हैं।

ज़ांस्कार में दो नदियों की घाटियों और उनके संगम पर स्थित मैदान में ही लोग वसते हैं। अन्यथा या तो जलाश्रयी पर्वत-माला के वर्फीले पर्वत हैं या मध्य-लद्दाख के जटिल-शृंखलाओं वाले पर्वत हैं। यहां एक धारा उत्तर-पश्चिम से आती है और दूसरी दक्षिण-पूरब की दिशा से और फिर दोनों उत्तर-पूरब की दिशा में वह जाती हैं। इसी संगम का खुला स्थान मध्य-ज़ांस्कार है। यह स्थान भी त्रिकोणनुमा है। इस मैदान का वहुत थोड़ा स्थान ही खेती के लायक है।

ज़ांस्कार का प्रमुख स्थान 'पद्म' है। यहां एक पुराने राजप्रासाद के ध्वंस हैं।

ज़ांस्कार की जलवायु कठोर है। वसंत, ग्रीष्म और पतझर, ये तीनों मौसम केवल पांच महीनों में समाप्त हो जाते हैं। फिर वरफवारी होती है और छै-सात महीनों के लिए यहां के निवासी वेकार हो जाते हैं। वसंत में यहां इतने वरफ के तोदे (avalanches) गिरते हैं कि तुनक घाटी के लोग एक महीने तक उनके भय से एक गांव से दूसरे गांव तक नहीं जाते। खेतों में से एक विशेष-क्रिया द्वारा वरफ हटाया जाता है। गरमियों और पतझर के दिनों में लोग वहुत-सी मिट्टी एकत्र कर लेते हैं और जव वसन्त के दिनों में सूर्य की किरणों से पिघलकर वरफ कड़ा होने लगता है, वे उस पर मिट्टी विछा देते हैं। मिट्टी सूर्य की किरणों को जज्व कर लेती है जिससे नीचे की वरफ पिघल जाती है।

ज़ांस्कार में इक्के-दुक्के वृक्ष ही होते हैं। गांव सुहावने नहीं लगते। सफेदे के नन्हे-नन्हे पेड़ वांस से ज्यादा मोटे नहीं होते।

लद्दाखियों में ज़ांस्कारी ज्यादा कदीमी लोग हैं—सरल और ईमानदार। यहां पर केवल आवश्यक व्यापार ही होता है। रुप्शु के लोग नमक लाते हैं, और वदले में जौ ले जाते हैं। रुप्शु का नमक पाडर और पांगी को भी जाता है, परन्तु अत्यन्त ऊंचे वर्फीले दर्रों के मार्गों से। वदले में यहां से चावल, मक्खन, शहद और चर्म जाता है। तीसरे रुप्शु का नमक सुरू जाता है, जहां से वदले में पट्टू, जौ और थोड़े पैसे मिलते हैं। इस प्रकार ज़ांस्कार के लोग जौ के वदले में रुप्शु से नमक लाते हैं और पाडर, पांगी और सुरू में वेचते हैं।

एक मार्ग लाहौल से है। वहां के व्यापारी पैसा लेकर आते हैं और ज़ांस्कार से घोड़े, गधे, भेड़ें और वकरियां खरीद ले जाते हैं। जो पैसा मिलता है उससे

ज़ांस्कारी सरकारी मालगुजारी चुकाते हैं। ज़ांस्कार में कुल चालीस-पचास गांव हैं, पांच-छै सौ घर हैं और तीन-साढ़े तीन हजार के लगभग आबादी है।

रुप्शु लद्दाख की ऊंची घाटी है जिसका धरातल १४-१५ हज़ार फुट ऊँचा है। यह घाटी लद्दाख की दक्षिण-पूरब सीमा पर सिंध नदी और जलाश्रयी-पर्वतमाला के बीच में स्थित है। उप्शी के पास सिंध नदी को छोड़कर दक्षिण से आने वाले एक नाले के किनारे-किनारे जाना होता है। मार्ग में इस दिशा का अन्तिम गांव ग्या मिलता है जो साढ़े तेरह हजार फुट की ऊँचाई पर है। यहां काफी कृषि-भूमि है। जौ पैदा होता है और चारे के लिए मटर। ग्या से १४ मील की चढ़ाई के बाद 'तोगलंग' दर्रा (१७५०० फुट) आता है, जहां से रुप्शु की घाटी दिखाई देती है। यह घाटी दर्रे से दक्षिण-पूरब की ओर दूर तक फैली हुई है। दूर १८ मील पर नीले रंग की नमक की झील है। घाटी की समतल भूमि के चारों ओर गोलाकार चिकनी शिलाओं के अनावृत पर्वत हैं। रुप्शु एक उच्च समतल-भूमि की घाटी है।

रुप्शु

यहां की जलवायु अत्यन्त कठोर और शुष्क है। गर्मियों में सूरज की किरणें तीक्ष्ण होती हैं, परन्तु कठोर ठंडी वायु अविराम बहती रहती है। और रात को चश्मे, नाले और झील का पानी तक जम जाता है। परन्तु जाड़ों में वायु की शुष्कता के कारण अधिक बरफ नहीं गिरता। यहां वनस्पति नहीं के बराबर है। चश्मों के किनारे जो थोड़ी-बहुत घास होती है, भेड़ों के गल्ले उसीको खाकर जीते हैं। एक-दो स्थानों पर खेती भी की गई है, परन्तु लोग उस पर निर्भर नहीं करते।

इस विशाल घाटी में कुछ पांच-सात सौ लोग रहते हैं, जिन्हें 'चाम्पा' कहते हैं। ये लोग तम्बुओं में रहते हैं। फारसी में इन तम्बुओं का नाम ख़ीमापोश है। चाम्पा लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते हैं। एक परिवार के पास एक ख़ीमा होता है। ये ख़ीमे याक या बकरी के काले बालों की ऊन से बुने जाते हैं और इस तरह ताने जाते हैं कि ऊपर धुआं निकलने के लिए ६ इंच जगह खुली रहती है। खम्भों में छोटे-छोटे झंडे और याक की पूंछे लटकाकर सजावट की जाती है। यहां पर भेड़ें और बकरियां असंख्य हैं। भेड़ बहुत बड़ी होती है। झील से नमक और ज़ांस्कार से जौ उसी पर लादकर ले जाते और लाते हैं। परन्तु शाल की ऊनवाली बकरियों की संख्या यहां ज्यादा है जो छोटी और लम्बे बालोंवाली होती हैं। उनके छौने अतीव सुन्दर होते हैं। जिससे काश्मीर में पशमीने के शाल बुने जाते हैं, वह ऊन इन्हीं बकरियों के लम्बे बालों के नीचे के छोटे

मुलायम रोयें से निकलती है। यह रोयों की ऊन बकरी से ही नहीं, जाड़ों में रुप्शु के याक, कुत्तों और दूसरे जंगली जानवरों से भी निकलती है। गर्मी के प्रारंभ में ये रोयें या तो झड़ने लगते हैं या कंघी करके निकाल लिये जाते हैं। फिर इनमें से लम्बे बाल बीनकर लेह भेज देते हैं, परन्तु पशमीने की ज्यादा अच्छी ऊन लद्दाख की सीमा के बाहर चीन के जिलों से या काशगर के अमीर के यहां से आती है।

रुप्शु में सींगोंवाले जानवर केवल याक जाति के हैं। वह भी थोड़े हैं और बोझ लादने के काम नहीं आते। रुप्शु के लोग स्वयं बोझ उठाने में अत्यन्त समर्थ हैं; मध्य-लद्दाख, चीनी तिब्बत और भारत के लाहौल प्रदेश तक व्यापार करते हैं। और वे नाज के रूप में जो कुछ खाते हैं वह सब बाहर से आता है, विशेषकर कुलू और लाहौल से।

रुप्शु ऐसी जगह पर स्थित है कि बहुत से व्यापारी इस प्रदेश से गुजरते हैं। लासा के चाय के व्यापारी प्रतिवर्ष लेह के लिए चाय लेकर इधर से ही आते हैं। लासा के निर्णय के अनुसार रुप्शु के लोग इन व्यापारियों का बोझ मुफ्त में ढोते हैं। सतलज घाटी के कुनावर स्थान से कुनूस लोग आते हैं, लाहौल और कुलू घाटी से तिब्बती या मिश्र-जातियों के लोग आते हैं। आजकल पंजाब से यारकंद जाने वाले मार्ग के कारण भी रुप्शु में अधिक चहल-पहल रहती है। पंजाब से पूर्वी तुर्किस्तान के लिए यही सबसे अच्छा मार्ग है।

जाड़ों में रुप्शु के निवासी लेह की तरफ़ चले जाते हैं। काश्मीर की जलवायु को तो वे गरम और अस्वास्थ्यकर समझते हैं। विलक्षण सहन-शक्ति के मनुष्य हैं।

रुप्शु की वायु अत्यन्त हल्की और सूक्ष्म है। पानी १८७ डिग्री के ताप पर उबलता है अर्थात् समुद्र तल की अपेक्षा यहां पर वायु में आक्सीजन आधी के लगभग है। बिना जोर से श्वास खींचे जीना संभव नहीं है। थोड़े परिश्रम से ही श्वास फूलने लगती है। परन्तु रुप्शु-निवासी फिर भी कठिन परिश्रम कर लेते हैं।

रुप्शु की नमक की झील सात वर्गमील के क्षेत्र में १६६०० फुट की ऊँचाई पर है। पास में एक मीठे पानी की झील भी है। इस झील में नमक बहुत अधिक मात्रा में मिलता है। झील के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार का नमक पैदा होता है। मैदान की जमीन पर भी नमक जमता है, कार्बोनेट सोडा की किस्म का, जिसे चाम्पा लोग 'पात्स' पुकारते हैं।

नमक की झील

रुप्शु में सिंध नदी की घाटी के प्रदेशों के अतिरिक्त कुछ सतलज नदी से वाहित प्रदेशों का भाग भी है। रुप्शु ऐसा प्रदेश है जहां सिंध और सतलज में गिरने वाले नालों द्वारा वाहित घाटियां झील-सम्बन्धी मिट्टी से इतनी भर गई हैं कि उनका धरातल जलाश्रयी पर्वतों की ऊंचाई तक पहुंचता है। रुक्चिन की चौड़ी घाटी से जलाश्रयी पर्वतों को पार करके छ़ोमोरीरी झील (१५६०० फुट) की दक्षिण-सीमा पर पहुंचते हैं।

छ़ोमोरीरी

छ़ोमोरीरी (नाम में 'छ़ो' झील के लिए तिब्बती शब्द जुड़ा है) १५ मील लम्बी झील है। तीन से पांच मील चौड़ी है। पानी नीला और खारी है। जाड़ों में इसका पानी जम जाता है और जानवर इस पर घूमते-फिरते हैं। कई झरने इस झील में गिरते हैं, परन्तु घाटी में पानी के लिए कोई निर्गम मार्ग नहीं है। घाटी का सारा चौरस भाग झील ने घेर रखा है, रुप्शु की तरह नहीं कि झील सिकुड़ती गई है।

छ़ोमोरीरी मनुष्य के रहने का स्थान नहीं है। केवल दो-एक स्थान ऐसे हैं जहां चराई की जगह है। रुप्शु का सदर-मुकाम इस झील के किनारे स्थित 'करज़ोक' नाम का गांव है जहां पर एक मठ है और एक घर। घर इस प्रदेश और जाति के मुखिया का है। मठ में ३५ लामाओं के रहने का स्थान है। पास में दरवों या बाड़ों जैसे आठ-दस घर और हैं जिनमें बूढ़े या बीमार रखे जाते हैं, जब लोग सिंध घाटी में ख़ीमे लेकर चले जाते हैं।

रुप्शु में करज़ोक ऐसा स्थान है जहां खेती होती है। कुल १२-१३ एकड़ भूमि पर जौ बोया जाता है। १५ हजार फुट की ऊंचाई पर यह खेती का एकमात्र स्थान है। यहां की जलवायु तिब्बती है। गर्मियों में आकाश स्वच्छ और मेघहीन होता है।

करज़ोक के उत्तर में पर्वतों का एक ऊंचा थार छ़ोमोरीरी को छूता है। उस दिशा से एक बड़ा झरना आता है। इस झरने के बायीं ओर एक दो सौ फुट ऊंचा पठार है, जिसके उस पार की घाटी में दो मील लम्बी और एक मील चौड़ी एक और झील है जिसका नाम छ़ो क्यागर है। चारों ओर से झील १५० से ३०० फुट ऊंचे थारों से घिरी हुई है। पानी का रंग हरा है और पीने में खारी है। पश्चिम की दिशा में झील में एक झरना गिरता है, परन्तु यहां भी पानी के लिए कोई निर्गम मार्ग नहीं है।

छ़ो क्यागर

चोमोरीरी के पूरब में रुशु का ही एक भाग है जिसे 'हन्ले' पुकारते हैं। यहाँ शिला-खट पर एक मठ बना हुआ है। इस मार्ग से

सिंध घाटी

सिंधघाटी में जाते हैं। यह काश्मीर राज्य की सबसे ऊँची घाटी है। रुशु के चाम्पा लोग यहाँ अपने गल्ले लेकर घूमते हैं।

नमक-झील के मैदान से फोलोकोन्क के दर्रे (१६५०० फुट) से मार्ग जाता है। दर्रे के पार पूग की घाटी है। यहाँ पर सुहागा और गन्धक निकाला जाता है। कुछ मील आगे सिंध-घाटी आती है। घाटी का यह भाग रोंग नाम के एक संकुचित गर्त के ऊपर का है। उसी से रोंग तक नदी का मार्ग दुर्गम और संकुचित घाटी में है, अतः उसे छोड़ना पड़ता है। इस स्थान को जहाँ पर घाटी पुनः चौड़ी हो जाती है 'मेय' कहते हैं। मेय से चार मंज़िल पर (५० मील) डोर नाम का स्थान है।

मेय में कोई ठहरने का स्थान या घर नहीं है। परन्तु आगे सिंध घाटी के तीन सबसे ऊँचे गाँव मिलते हैं--निदर, निमू और मद। इन गांवों में (१४ हज़ार फुट) भी जौ और मटर की खेती होती है। बेद के कुछ वृक्ष भी हैं। इन गांवों के लोग चाम्पा नहीं लद्दाखी हैं, यद्यपि वे लोग अपने गल्लों को लेकर घूमते हैं और ख़ीमों में ख़ानाबदोश जीवन व्यतीत करते हैं।

आगे डोर स्थान पर मवेशियों के लिए नीची दीवारों के बाड़े बने हुए हैं और एक ओर मुखिया के लिए बेढंगा सा मकान है। इस स्थान पर कदाचित् ही बरफ़ गिरता है। यहां थोड़ी-सी चराई की जगह भी है। और पास में तीन-चौथाई मील लम्बी और एक-चौथाई मील चौड़ी मीठे पानी की निर्मल, स्वच्छ झील है। यहां से दो-तीन मील आगे नमक के तालाब भी हैं। डोर के बाद चंग नाम का दर्रा है जो चीनी तिब्बत की सीमा पर है।

यहां पर तिब्बती बारहसिंघा और तिब्बती खरगोश मिलता है, परन्तु सबसे ज्यादा संख्या क्यांग (जंगली गधा) की है। इसका रंग बादामी और पेट सफेद होता है। आवाज़ खच्चर जैसी होती है। क्यांग को पालतू बनाना कठिन है, अतः केवल उसका मांस खाया जाता है।

सिंध घाटी छोड़कर शायोक नदी के मार्ग से चाक दर्रे को पार करके तीस मील आगे चुशल गांव से गुज़रकर पांगकांग झील मिलती है। इस घाटी में कई झीलें हैं। पांगकांग पहली है—४० मील लम्बी और २ से

पांगकांग झील

४ मील तक चौड़ी; १३६०० फुट की ऊँचाई पर। पानी नीला दिखाई देता है, परन्तु इतना स्वच्छ है कि झील की

सतह नज़र आती है। पानी नमकीन है, क्योंकि कोई निर्गम मार्ग नहीं है। चुशल और लकंग नाम के झरने झील में गिरते हैं।

इस झील के किनारे ताग्चे नाम का गांव है। चोमोरीरी की अपेक्षा पांगकांग अधिक निवास-योग्य स्थान है। उसके पश्चिमी तट पर कई छोटे छोटे गांव हैं, जहां १४ हज़ार फुट की ऊंचाई पर लोग जौ और मटर बोते हैं। तक्कुंग से उत्तर-पश्चिम की दिशा में ककफे, मीरक, मन, स्पनमिक, लुकुंग आदि गांव मिलते हैं। ताग्चे यहां का सबसे बड़ा गांव है, जहां पर एक मठ और पुराने क़िले के खंडहर हैं।

शायोक नदी की एक सहायक नदी की घाटी का नाम चांगचेन्मो है, जो पूरब-पश्चिम की दिशा में ७० मील तक फैली हुई है। प्रारंभ में घाटी की ऊंचाई १२ हज़ार फुट है, बीच में १५ हज़ार और अन्त में वह ऊँची उठकर एक दर्रे तक पहुँचती है जिसके पार 'रुदोख' का ज़िला है।

चांग चेन्मो

शायोक से जाड़ों में ही इस घाटी में जाया जा सकता है। गर्मियों में ताग्चे और लुकुंग के मार्ग से ही जाना संभव होता है। लुकुंग और चांगचेन्मो के बीच मासीमिक दर्रा है। यह मार्ग यारकंद की सड़क पर है।

पांगकांग घाटी का अन्तिम गांव 'फोब्रंग' (१४५०० फुट) है जो लुकुंग से पांच मील ऊपर है। इस दिशा में यह लद्दाख का भी अन्तिम गांव है। यहां कतिपय घर हैं। गर्मियों में थोड़ी खेती भी होती है। फोब्रंग से ऊपर चग्रा नाम के स्थान पर चाम्पा आकर ठहरते हैं। आगे मासीमिक दर्रा है।

चांगचेन्मो में इस मार्ग से पहले पामज़ाल और फिर चोल नाम के स्थान मिलते हैं। पामज़ाल में चारागाह है और पास में डम्बू और झाऊ की झाड़ियां हैं। १२ मील आगे क्यम है जहां गरम पानी का चश्मा है। आगे गोग्रा में एक विश्राम-गृह बना हुआ है। गोग्रा के ऊपर यह घाटी दो घाटियों में विभाजित हो जाती है। उसकी पश्चिमी शाखा को कुग्रांग और उत्तर-पूरब की शाखा को चोंगलुंग की घाटी कहते हैं।

रुशु १५ हज़ार फुट की ऊंचाई पर भी एक ऊंचे धरातल की घाटी ही कहलाएगा, पठार नहीं। परन्तु जिन पठारों का हम यहां वर्णन करेंगे, वे ऐसे नहीं हैं कि बीच में ऊंचे हों और चारों ओर को ढलवां हों। उनके चारों ओर भी पर्वतमालाएं हैं, परन्तु इन पठारों का विस्तार इतना बड़ा है कि ये पर्वत बहुत छोटे लगते हैं।

लद्दाख के पठार

शायोक नदी में गिरने वाले-नालों के प्रदेश और कारकाश या पूर्वी तुर्किस्तान की अन्य नदियों में गिरने वाले नालों के बीच में विशाल ऊँचा मैदान है जो चटानी थारों से घिरा हुआ है और जिसका पानी निकास न पाकर वहीं सूख जाता है। इस मैदान का धरातल १६-१७ हज़ार फुट ऊँचा है। इस मैदान का क्षेत्रफल ७ हजार वर्गमील है—सौ मील लम्बा और सत्तर मील चौड़ा। इस पठार पर मनुष्य के पांव नहीं पड़े; केवल दो-एक योरोपीय इस पठार से गुज़रे हैं और बाद में ज़मीन की माप करने वाले निरीक्षक वहां गये हैं।

रुशु आदि जाना अपेक्षाकृत सरल है। खाद्य-वस्तुएँ साथ ले जाई जा सकती हैं, और वहां भी मिल जाती हैं। पानी, घास, आग जलाने को कंडे आदि भी मिलते हैं। परन्तु इन पठारों पर ये सारी वस्तुएँ दुर्लभ हैं।

तांकूचे से यात्रा शुरू होती है। यह एक बड़ा गांव है। यहां सरकारी गोदाम है और लद्दाख के गवर्नर का कारदार रहता है। तांकूचे (पांगकांग) से चांगचेन्मो की घाटी से होकर जाना होता है। इसका वर्णन पहले हो चुका है।

इन मैदानों या पठारों का दक्षिणी जलाश्रयी पर्वत चांगचेन्मो घाटी के पूर्वी भाग के उत्तर में है। यह पर्वत १९५०० फुट से २०००० फुट तक ऊँचा है। दर्रे ऊंचे नहीं हैं, और न उन पर वरफ है। आसपास वरफ है परन्तु स्थायी नहीं है। घास-पात का यहां कहीं निशान नहीं है। जलाश्रयी पर्वत-माला के आगे पन्द्रह-बीस मील तक पहाड़ियां हैं। परन्तु वर्त्सेथांग स्थान से नये प्रकार की भूमि शुरू हो जाती है। वहां से कुछ नीचे उतरने पर दक्षिण से उत्तर की दिशा में एक विशाल मैदान शुरू होता है। यह मैदान उत्तर-दक्षिण में १६ मील और पूरब-पश्चिम में ५०-६० मील है। इसे लद्दाखी 'लिंग्ज़ीथंग' पुकारते हैं।

लिंग्ज़ीथंग का मैदान (पठार) १७१०० फुट की ऊँचाई पर है और अद्भुत रूप से समतल है। इसकी अनावृत भूमि का रंग भूरा और श्वेत है। सारी ज़मीन ऊसर है। इस मैदान के पश्चिम में बड़ी पहाड़ियां भी हैं और वरफ की चोटियां भी। उधर एक दर्रा भी है जिस पर होकर शायोक नदी तक पहुँचा जा सकता है। उत्तर में लोक्ज़ुंग पर्वत है।

लिंग्ज़ीथंग

यहां की जलवायु ऐसी है कि दोपहर को असह्य गर्मी होती है, और संध्या के समय ऐसी वायु चलती है कि चिल्ले की सर्दी हो जाती है और पाला जम जाता है। जाड़ों में यहां कितना वरफ गिरता है इसका किसीको अनुभव नहीं है। संभवत; वरफ काफी गिरता है। वस्तुतः यह मृग-मरीचिका का स्थान है।

सिंध के दाहिने तट पर शिगर घाटी में क्यार्दू नाम का गाँव है। यहाँ से ऊपर की ओर शिगर घाटी २४ मील लम्बी और तीन मील चौड़ी है। दोनों ओर ऊँचे पर्वत हैं। घाटी में पार्श्व से जो नाले आते हैं उनके मुख पर खेती होती है।

शिगर

शिगर का गाँव नदी के बायें तट पर है, जहाँ एक लम्बी पट्टी में गेहूँ, जौ, बाजरा आदि खूब पैदा होते हैं। यहाँ पर बहुत उम्दा किस्म की खूबानियां होती हैं। शिगर बाल्तिस्तान में सबसे सुन्दर स्थान है।

आगे २४-२५ मील तक ऐसे ही गाँव मिलते हैं। शिगर नदी बाश और आल्दू के नालों के संयुक्त पानी से बनी है। ये दोनों नाले शिगर घाटी के ऊपरी छोर पर मिलते हैं। वहाँ से इन नालों की दो संकुचित घाटियाँ फूटती हैं।

बाश घाटी पश्चिम की दिशा में है। इस घाटी में कोई समतल स्थान नहीं है। बगल के नालों के मुख पर गाँव बसे हुए हैं। गांवों के पीछे के थारों पर चढ़कर देखा जाय तो सर्वोच्च पर्वत-शिखर दृष्टिगोचर होते हैं। गांवों से २ हजार फुट की ऊँचाई तक घास उगती है, जहाँ भेड़ों के गल्ले चरते हैं और गड़रियों की पत्थर की झोंपड़ियां हैं। गांवों में अखरोट के वन हैं।

बाश

बाश घाटी के अन्त पर आरन्दू गांव है, जो घाटी में सबसे ऊंचा (१०-११ हज़ार फुट) गांव है। यह गाँव एक विशाल तुषार-नद के निचले सिरे पर बसा हुआ है। यह तुषार-नद घाटी को बरफ़ के काले ढेर और मिट्टी से भर देता है। यह उन विशाल तुषार-नदों में से है जो उच्चतम पर्वतों से नीचे उतरता है और दूर तक घाटी को बरफ से भर देता है।

नीचे जहाँ तुषार-नद का अन्त होता है, उसकी चौड़ाई १½ मील है, और बरफ़ की गहराई लगभग दो सौ फुट है। इस तुषार-नद की लम्बाई लगभग ३० मील है। ऊपर और भी अनेक पार्श्ववर्ती तुषार-नद इसमें आकर मिलते हैं, और उसका उद्गम-स्थान चिरस्थाई हिम-पर्वतों में है। इस विशाल तुषार-धारा पर मनुष्य के नहीं, वरन् केवल जंगली बकरे, चीते और रीछ के पद-चिन्ह मिलते हैं। तुषार-नद के किनारे-किनारे छोटी-छोटी झीलें भी हैं।

शिगर नदी में पूर्व की दिशा से गिरने वाले आल्दू नाले की घाटी निचले भाग में बाश की घाटी से ही मिलती है। वैसी ही संकरी घाटी है और वैसे ही पार्श्व के नालों के मुख पर गांव हैं। परन्तु उसके अन्त में सर्वोच्च पर्वत हैं और विशालतम तुषार-नद हैं। इनमें सबसे बड़ा

आल्दू

'ब्राल्तोरो' नाम का तुषार-नद है, जो लगभग ३५ मील लम्बा है और दो बहुत ऊंचे थारों के बीच से आता है। दक्षिणी थार २५ हजार फुट ऊंची चोटियों का है और उत्तरी थार में २८,२६५ फुट ऊंचा, संसार का द्वितीय सर्वोच्च शिखर K२ है। यह पर्वत केवल तुरमिक से दिखाई देता है।

पहले स्कर्दू से यारकन्द के लिए एक मार्ग ब्राल्तोरो तुषार-नद पर कुछ दूर चलकर दाहिनी ओर को मुश्ताग दर्रे से होकर जाता था। परन्तु यह अत्यन्त दुर्गम-मार्ग अब बन्द हो गया है। पर्वतों की दूसरी दिशा से आकर पहले हुंजा ठग अक्सर यात्रियों के काफिलों पर हमला करते थे।

स्कर्दू की घाटी में जो निचला गर्त्त है, उसके सबसे संकुचित भाग को रोन्दू पुकारते हैं। स्कर्दू से रोन्दू के मार्ग में पहला बड़ा गांव कत्सूर है। वहां जर्बा-त्सो नाम की एक छोटी झील है। कत्सूर की तलहटी में चीड़ के जंगल हैं, और बागों में अंगूर पैदा होते हैं। आगे जहां थार को पार करते हैं वहाँ से रोन्दू का इलाका शुरू होता है।

रोन्दू

सिंध नदी के तट पर रोन्दू गांव है, (६७०० फुट)। यहाँ भी वही फल मिलते हैं जो स्कर्दू में होते हैं। केवल अनार के वृक्ष अधिक होते हैं। यहां एक टीले पर पुराने राजा का महल है। नदी गांव से कई सौ फुट नीचे गर्त्त में से बहती है। यहां एक स्थान पर ३७० फुट लम्बा रस्सियों का पुल है। यह स्थान दाह से १२० मील दूर है।

देओसई वस्तुतः एक ग़ैर-ममलूका जगह है। स्कर्दू से दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम की दिशा में इस ऊंचे पठार का मध्यभाग २५ मील दूर है; और सबसे निकट का सिरा १० मील पर है। यह १२-१३ हजार फुट ऊंचा एक वृत्ताकार पठार है, जिसका व्यास २५ मील लम्बा है। उसको घेरने वाली मुद्रा १६-१७ हज़ार फुट ऊंचे पर्वतों की हैं। इन पर्वतों में दर्रे भी हैं। काश्मीर से स्कर्दू जाने वाला सबसे ज्यादा चालू मार्ग इस पठार को पार करके 'बुर्जिल दर्रे' (१५७०० फुट) से गुजरता है। सारे मैदान का पानी शिगर नदी के द्वारा दक्षिण-पूरब की दिशा से निकल जाता है। यह नदी द्रास में जाकर गिरती है, और बाल्तिस्तान की शिगर नदी से भिन्न है।

देओसई

काश्मीर से स्कर्दू जाते समय वितस्ता घाटी का अन्तिम स्थान बुर्ज़िल है। वहां पर 'स्टाक्पिला' दर्रे (१२६०० फुट) को पार करके शिन्गो नदी की तलहटी में दाखिल होते हैं। फिर उत्तर-पूरब की दिशा में सरसंगर दर्रे से शिन्गो नदी की घाटी को पार करते हैं। वहाँ एक के बाद दूसरी तीन झीलें मिलती हैं। अन्तिम

बड़ी गोलाकार झील का नाम 'शिवसर' है। झील के ऊपर एक गर्दने से अस्तोर के लिए मार्ग जाता है। आगे देओसई की घाटियां और २५ मील के व्यास का गोल पठार है। देओसई में कोई मनुष्य नहीं बसता, केवल 'त्रिशीऊन' (गिलहरी-जाति के जानवर) अपरिमित संख्या में मिलते हैं। दरदी भाषा में 'शीऊन' का अर्थ 'कुत्ता' होता है, परन्तु 'त्रि' से यहां क्या तात्पर्य है, इसका पता नहीं चला।

देओसई के सभी स्थानों के दुहरे नाम हैं, एक बाल्तियों के रखे हुए और एक अस्तोर और गुरेज़ के दरदों के रखे हुए।

८. दरदिस्तान

दरदिस्तान का अधिकांश भाग काश्मीर-राज्य में है और कुछ भाग बाहर है। गुरेज़, अस्तोर, बवनजी, गिलगित, पुनिआल, हुंजा, नगर, इश्कोमन, यासीन, घिज़र और कुह आदि दरद प्रदेश काश्मीर राज्य के अन्तर्गत हैं।

काश्मीर से गिलगित का मार्ग

श्रीनगर से गिलगित तक २०-२२ दिन का सफ़र है। काश्मीर घाटी में वुलर झील पार करके बांडीपुर गाँव से मार्ग जाता है। वितस्ता और किशन गंगा के बीच के धार को त्रागवल दर्रे से पार करके किशनगंगा के तट पर कंज़लवान स्थान पर पहुँचते हैं। यह नदी यहाँ से चालीस मील पूरब में द्रास के पीछे के पर्वतों से निकलकर आती है और आगे मुज़फ्फराबाद के निकट झेलम में गिरती है।

गुरेज़

कंज़लवन से थोड़ा ऊपर इसी घाटी में गुरेज़ है, जो एक केन्द्रीय स्थान है। गुरेज की घाटी (७८०० फुट) चार मील लम्बी और आधा या एक मील चौड़ी है। दोनों ओर घने जंगल हैं और ऊंचे पर्वत-शिखर हैं। यहाँ की जलवायु तूफ़ानी है: झंझावात और बरफबारी यहाँ के मौसम को असहनीय बना देते हैं। जलवायु पामीर के प्रदेश का स्मरण दिलाती है। जौ, बाजरा और मटर आदि सिंचाई करके पैदा किये जाते हैं। धान नहीं होता। गुरेज़ के दरद प्रसिद्ध हैं।

गुरेज़ दरदों का प्रदेश है और यहाँ दरद और कुछ काश्मीरी बसते हैं। यहाँ पर और यहाँ से आगे दरदी (दरदों की भाषा) बोली जाती है, जो काश्मीरी से भिन्न है।

गुरेज़ से ऊपर जहाँ किशनगंगा में बुरज़िल नाला आकर गिरता है, इस घाटी के चौड़े भाग का अन्त हो जाता है। दक्षिणी धारा किशनगंगा तिलैल के ज़िले से आती है, परन्तु उसके किनारे-किनारे जाना असंभव है। अतः उत्तरी धारा बुरज़िल नाले के किनारे चलकर एक दर्रा पार करके तिलैल जाने का मार्ग है।

बुरज़िल नाले की घाटी संकुचित है। तीन मंजिल के बाद बंगल स्थान आता है, जहाँ से अस्तोर और गिलगित के लिए उत्तर के ओर पर कमरी दर्रा (१३ हज़ार फुट) पार करके मार्ग जाता है।

परन्तु यदि बुरज़िल घाटी में ही बंगल से और आगे बढ़ें तो मिनमर्ग और उसके आगे बुरज़िल स्थान मिलता है। यहाँ तक तिब्बती जलवायु का निशान नहीं है। काश्मीर की-सी ही जलवायु है। बुरज़िल से दो मार्ग जाते हैं, एक उत्तर-पूरब की दिशा से देओसई का पठार पार करके स्कर्दू को, और दूसरा उत्तर की दिशा से अस्तोर को।

अस्तोर के मार्ग पर पाँच-छै मील आगे दोरिकुन (१३५०० फुट) दर्रा है। इस दर्रे को पार करते ही सिंध नदी की तलहटी में अस्तोर नदी की पूर्वी शाखा के किनारे पहुंचते हैं। दर्रे से तीन-चार मंज़िलें नीचे उतरकर वह स्थान मिलता हैं जहाँ अस्तोर नदी की पूर्वी शाखा सिंध में गिरती है। यहाँ से कुछ मील पर अस्तोर है।

अस्तोर की घाटी दो नालों के कारण दो शाखाओं में बँटी है, और ६० ७० मील लम्बी है। पश्चिमी शाखा के सिर पर कमरी दर्रा है। दर्रे के उत्तर में गुरेज़ की वनस्पति में भिन्नता आ जाती है। यहाँ पर घास कम है और चीड़ के जंगल भी बेगरे हैं। सनोवर के वृक्ष इक्के-दुक्के हैं और १२ हज़ार फुट तक भूर्ज के वृक्ष मिलते हैं।

अस्तोर

घाटी में छोटे-छोटे गाँव हैं जहाँ पर पेड़ नहीं हैं। रत्तू पहुँचकर खूवानी और आगे कुछ अखरोट के वृक्ष मिलते हैं। चुगाम से आगे गाँव फलों के वृक्षों से ढंके हैं।

चिलास प्रदेश के लोग अक्सर अस्तोर की घाटी पर आक्रमण किया करते थे। चिलास के लोग भी दरद जाति के हैं और दिया मीर (नंगा पर्वत) के पश्चिम की एक लम्बी घाटी में बसते हैं। सन् १८५० तक अस्तोर पर उनके आक्रमण होते रहे। ये लोग मज़ेनू दर्रे से या हतू पीर या दुइयान दर्रों से आते थे। यहाँ से वे गुलाम और जानवर लूट ले जाते थे। बच्चों को उठा ले जाते थे और पुरुषों को मार देते थे।

गुलाबसिंह ने, इसी कारण, सन १८५१-५२ में चिलास के विरुद्ध फौज भेजी और उसने सिंध नदी से दो-तीन मील पर स्थित चिलासियों का प्रसिद्ध किला जीत लिया। चिलासी टट्टुओं पर नहीं चढ़ते इसलिए टट्टू नहीं लूटते थे। अस्तोर वाले चिलासियों से पिट कर गुरेज़ और द्रास पर हमले करते थे।

अस्तोर से एक घाटी नंगा पर्वत के नीचे तक जाती है—उस घाटी का अन्तिम गाँव तरशिंग है जहाँ नंगा पर्वत से निकला एक तुषार-नद समाप्त होता है।

अस्तोर का गाँव घाटी के पश्चिमी भाग में नंगा पर्वत से आने वाली सहायक नदी के संगम पर स्थित है। अस्तोर दरद राजाओं की राजधानी था।

सिखों के समय में अस्तोर का राजा उन्हें ख़िराज देता था। ज़ोरावरसिंह के सहकारी वजीर लखपत ने स्कर्दू जीत कर हरपोला दर्रे से अस्तोर पर आक्रमण किया, और चार महीने के घेरे के बाद राजा को क़ैद कर ले गया। लेकिन लाहौर-दरबार ने उसे मुक्त कर दिया। परन्तु शीघ्र ही सिखों ने गिलगित जाने के लिए अस्तोर का मार्ग अपनाया और वहाँ उन्होंने अपनी एक चौकी बिठा दी। तब से राजा की स्वाधीनता कम होती गई और वह महाराजा का मात्र जागीरदार बन गया।

हतूगीर दर्रे के पार सिंध-घाटी है। वहाँ एक नाले के किनारे थलीचा नाम का छोटा गाँव है। नौ मील आगे बवनजी है।

यहाँ भी दरद जाति के लोग बसते हैं, परन्तु पहले यह स्थान शायद रोन्दू के राजा द्वारा अनुशासित था। सुलेमान शाह के आक्रमण ने इस हरे-भरे गाँव को तबाह कर दिया था। अब यह एक छोटा गाँव है, परन्तु गिलगित के मार्ग में यह महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यहाँ पर सिंध नदी को पार करना पड़ता है। डोगरों ने यहाँ एक छोटा क़िला बनवाया है। घाटी गरम और खुश्क है। सिंचाई से दो फ़सलें उगती हैं। किले से एक मील पर नाव से पार उतरने का घाट है। कुछ मील ऊपर गिलगित नदी सिंध में गिरती है।

बवनजी

गिलगित को दरद लोग गिलगिट पुकारते हैं। बदख़्शां और चित्राल के प्रदेशों को घेरने वाले पर्वतों से उतर कर जो नदी बवनजी के ऊपर सिंध में गिरती है, उसकी घाटी के निचले भाग को गिलगित कहते हैं। यह नदी १२० मील लम्बी है। यासीन के प्रदेश में ६० मील, पुनियाल के प्रदेश में २५ मील और गिलगित में ३५ मील बहती है।

गिलगित

इसके अतिरिक्त उत्तर-पूरब की दिशा में एक लम्बी घाटी है जिसमें दो छोटी जागीरें हैं—'हुंजा' और 'नगर'।

गिलगित घाटी का निचला भाग दो तीन मील चौड़ा है। दोनों ओर ऊंचे चट्टानी पर्वत हैं। घाटी में भी ऊंचे-नीचे पथरीले पठार हैं। अधिकांश भाग ऊसर-बंजर है। परन्तु पार्श्व से आने वाले नालों के मुख पर हरे-भरे स्थान हैं, और बस्तियां हैं। दक्षिण पूरब के पर्वत ऐसे नालों से जगह-जगह पर कटे हुए हैं। परन्तु उत्तर-पूरब के पर्वत विशाल आकार के हैं। 'से' घाटी और गिलगित घाटी को अलग करने वाले थार से ये पर्वत स्पष्ट दिखाई देते हैं। उनमें से एक २५ हज़ार फुट से ज्यादा ऊंचा है। पर्वत नंगे हैं, केवल दक्षिण-पश्चिम की दिशा में चीड़ के जंगल हैं।

गिलगित का गांव नदी के दाहिने तट पर है। यहां पर एक वर्गमील में खेती होती है। मकान अस्तोर की तरह के चौरस छतों के होते हैं। गिलगित में एक किला है। अनेक आक्रमणों के बीच और बाद में यह किला टूटा और बना है। इसका दरद शैली का स्थापत्य है, अर्थात् लकड़ी के ढांचे में पत्थरों की चिनाई है।

गिलगित ४८०० फुट की ऊंचाई पर है, और यहां की जलवायु बाल्तिस्तान की-सी है, केवल बरफ कम गिरती है। गेहूं, जौ, धान, मक्का, बाजरा, मूंग, उरद, मसूर, सरसों, कपास, खूबानी, अंगूर, सेब, नासपाती, अंजीर, अखरोट, अनार, अनाब, सरदा, तरबूज आदि पैदा होते हैं। थोड़ी मात्रा में रेशम भी पैदा होता है। रेशम और ऊन के मिले-जुले कपड़े बुने जाते हैं, और सिंध की तलहटी की तरह यहां भी नदी की बालू में से सोना धोकर निकालते हैं।

गिलगित गांव से उसी घाटी में चार मील आगे शरोत और गुलपूर गांवों के पास, जहां घाटी संकुचित हो जाती है, गिलगित का प्रदेश समाप्त हो जाता है और पुनिआल का इलाका शुरू होता है। गुलपूर पुनिआल में है।

पुनिआल घाटी २५ मील लम्बी है और उसमें ६-१० गांव हैं। ये गांव ४५०० फुट से ७००० फुट की ऊंचाई तक बसे हुए हैं। यहां का मुख्य स्थान शेर है—नदी के बायें तट पर। घाटी के बीच में स्थान-स्थान पर पार्श्व से शैल-बाहु आकर उसे संकुचित कर देते हैं। ऐसे स्थानों को यहां 'दरबन्द' पुकारते हैं। शेर का किला सबसे मजबूत है। बाहर ऊंचा परकोटा है, भीतर बुर्ज और झोंपड़ियां हैं। इस घाटी का बुबर गांव ज्यादा बड़ा और समृद्ध है। इस प्रदेश में गांव किलों के भीतर ही बसते हैं।

रात को लोग जानवरों को लेकर किले में चले जाते हैं। संतरी मीनारों

(बुर्जों) पर खड़े होकर पहरा देते हैं।

खनिज पदार्थ

समूचे काश्मीर राज्य के सांस्कृतिक भूगोल पर एक विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् हमारे लिए यह जान लेना भी आवश्यक है कि जम्मू, काश्मीर और लद्दाख के पर्वतीय प्रदेशों में प्रकृति ने अपना कितना खनिज-वैभव छिपा रखा है; क्योंकि यदि इस धन को निकालकर मनुष्य अपने उपयोग में ले आये तो सम्भवतः काश्मीर राज्य में बसने वाली अनेक जातियों के सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन में पहली बार इतनी व्यापक क्रान्ति हो जायगी, जो कुछ वर्ष पहले तक अकल्पनीय थी।

भू-तत्त्व शास्त्रियों का मत है कि जम्मू और लद्दाख में इतना खनिज-वैभव छिपा पड़ा है, जिसका अनुमान करना कठिन है। जम्मू के प्रान्त में जंगलगली, जिगनी, कालकोट, मेत्का, महोगल, जम्मूनगर और कोटली आदि में या उनके आस-पास कोयले की खानें हैं। काश्मीर की घाटी में शुद्ध कोयले की खानें तो नहीं हैं, परन्तु करेवों के नीचे ऐसे कोयले की मोटी तहें हैं जिनमें काष्ठ की गठन शेष है। निरीक्षकों का यह भी अनुमान है कि जम्मू प्रान्त में रामनगर और 'नरवुवन' के नीचे पेट्रोल है। देशज लोहा तो प्राचीन काल में भी प्रयोग में आता था। रामवन का झूलानुमा बना पुल देशज लोहे का ही है। कोयले की खानों के निकट ही लोहे की खानें भी हैं। रजौरी के निकट भी लोहे की पन्द्रह फुट मोटी तह की पट्टी मिली है। तांबे की खानें अनेक स्थानों पर हैं। लाशियल की खानों में, शम्वल, मुखवाल गली में मलाल-गैना की पट्टी में और कुलनसिंह की घाटी, किश्तवाड़, ज़ांस्कार, स्यारगी और वानहाल में तांबे की खानें हैं। सिंध गिलगित, करगिल और स्कर्दू के इलाकों में सिंध नदी के पानी में से सोने के कण छानकर एकत्र किये जाते हैं। द्रास और सुरु आदि नदियों के पानी से भी सोने के कण छाने जाते हैं। जम्मू प्रान्त में चीनी मिट्टी और एल्यूमीनियम धातु की मिट्टी बहुतायत से प्राप्त हो सकती है। मैंगनीज़ भी इन स्थानों पर प्राप्य है। काश्मीर की घाटी में चुनियार के वन के पास चांदी की मिट्टी है। किश्तवाड़ के कुछनाला और कोटली में चाँदी-मिली मिट्टी है। कल्ट की धातु गमगू, खलेनी और सुमजन पाडर में बड़ी मात्रा में मौजूद है और स्यारगी के पास जस्ते की खान है। सीमान्त के प्रदेशों में और किश्तवाड़ और करनाह में अवरक यत्र-तत्र बिखरा मिलता है। द्रास, बेनहन और तागगाय के निकट क्रोमियम धातु की विशाल शिलायें हैं। ग्रेफाइट, सिलखड़ी और गेरू उर्गी के निकट दगरीपुर में प्राप्य है। सिंध की घाटी में ज़हरमोहरा पर्याप्त मात्रा में मिलता है। पाडर में नीलम की खान है और अनेक प्रकार के हरों और दूसरे

जवाहर मिलते हैं। सोडा, नमक, सोहागा, अस्बेस्टॉस आदि अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ काश्मीर राज्य में यत्र-तत्र मिलते हैं। काश्मीर राज्य में जितनी खनिज-सम्पत्ति पर्वतों के नीचे दबी पड़ी है, उसकी सहस्रांश भी निकालकर मनुष्य के उपयोग में नहीं लाई गई है। इसी कारण उद्योग-धन्धों की यहां पर इतनी कमी है और कतिपय दस्तकारियों के अतिरिक्त यहां की अधिकांश जनता को कृषि पर निर्भर करना पड़ता है।

तीन

जातियों का कारागार

अरुचिकर नाम ?

इस समय युद्ध-ग्रस्त काश्मीर के प्रति समूचे भारत में सहानुभूति की स्वाभाविक लहर उमड़ पड़ी है। अतः काश्मीर की संस्कृति से संबन्ध रखने वाली पुस्तक में काश्मीर (राज्य) को 'जातियों का कारागार' सिद्ध करना या कहना, कदाचित कतिपय पाठकों को रुचिकर न लगे। परन्तु किसी भी वैज्ञानिक विवेचन में तथ्यों को प्रकाश में लाते समय यह पक्षपात नहीं किया जा सकता कि केवल रुचिकर तथ्यों को ही उपस्थित किया जाय और अरुचिकर तथ्यों को छलपूर्वक वर्जित कर दिया जाय। इस हीन और अवैज्ञानिक प्रवृत्ति की आशा केवल उन्हीं लेखकों से की जानी चाहिए जो समय और अवसर देखकर लिखते हैं, और दामन के धब्बे छिपाने में सिद्ध-हस्त हैं। यहां पर विज्ञ पाठकों के लिए यह विचारणीय है कि ऐसी अवसरवादी प्रवृत्ति से हम किञ्चित सामयिक लाभ चाहे उठा लें, परन्तु उससे हम किसी देश, जाति या राष्ट्र की सांस्कृतिक समस्याओं को न समझ सकते हैं और न उनका कोई सही समाधान ही खोज सकते हैं।

कारागार क्यों ?

यदि किसी देश या राज्य में अनेक जातियां बसती हों, परन्तु यदि उनके सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के विकास की सुविधाएं न हों; यदि उनके जातीय-जीवन की विशिष्टता को उपेक्षा से या सचेत सक्रिय चेष्टा से दबाने या मिटाने का प्रयत्न किया जाता हो; यदि इन समस्त प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ-साथ इन जातियों को एक निरंकुश शासन के अन्तर्गत रहने के लिए बाध्य किया गया हो, तो उस देश या राज्य को 'जातियों का कारागार' ही कहा जायगा—उसी अर्थ में जिस अर्थ

में ज़ारशाही रूस को लेनिन ने 'जातियों का कारागार' कहा था। काश्मीर-राज्य वस्तुत: एक राज्य नहीं वरन् एक छोटा-सा साम्राज्य है, जिसके अन्तर्गत न केवल अनेक प्रदेश हैं, बल्कि अनेक ऐसी जातियां भी बसती हैं, जिनके जातीय-जीवन के विकास के मार्ग अभी तक बन्द हैं। यह जाति-विभिन्नता उस प्रकार की नहीं है जैसी साधारणतया अनुमानित की जाती है। भारत में किसी जाति की उप-जातियों को भी जो, वर्ण या कर्म-भेद के कारण भिन्न होती हैं, प्रचलित प्रयोग में 'जाति' ही कहने की प्रथा है। इन उपजातियों के भी वंश और गोत्र के आधार पर अनेक विभेद किये जाते हैं। परन्तु आधुनिक अर्थों में जाति से तात्पर्य केवल उस जन-समूह से होता है जिसकी संस्कृति और भाषा एक हो, जिसका इतिहास और लोक-परंपरा एक हो, जिसका आर्थिक और सामाजिक जीवन परस्पर निर्भर और संयुक्त हो और जो एक संयुक्त प्रदेश में निवास करता हो। इस वैज्ञानिक अर्थ में जो जन-समूह एक विशेष जाति की संज्ञा प्राप्त करता है, उसके संयुक्त-जीवन के विषय में अनेक सामान्य राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। काश्मीर (राज्य) में निवास करने वाली जातियों के सांस्कृतिक-स्तर में इतना वैषम्य है कि कोई जाति तो मध्यकाल को पार करके आधुनिक होती जा रही है, और कोई अभी तक कबीलों का जीवन ही व्यतीत करती है। किसी जाति की भाषा और साहित्य उन्नत है, और किसी जाति के पास अपनी भाषा के लिए लिपि भी नहीं है; यहां तक कि यदि जाति का चार-पांच हजार वर्षों का इतिहास प्राप्त है तो अनेक जातियों के अस्तित्व का पता पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में ही लगा है। इससे काश्मीर की जातीय और सांस्कृतिक समस्या अत्यन्त जटिल हो गई है।

परन्तु इस समस्या को सही दृष्टिकोण से समझने में जन-गणना की रिपोर्टें बहुत थोड़ी सहायता देती हैं। जिन सिद्धान्तों के आधार पर ब्रिटिश सरकार भारत में जन-गणना कराती थी, वे उतने वैज्ञानिक नहीं थे जितने साम्प्रदायिक भेदों को और मज़बूत बनाने के लिए उपयोगी थे।

जन-गणना का दोष

जन-गणना का प्रमुख उद्देश्य हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, जैन, पारसी आदि धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायियों की संख्या की छानबीन करना होता था। इस दिशा में इस पड़ताल को अधिक सूक्ष्म और अन्तर्भेदी बनाने के लिए इन सम्प्रदायों के उपभेदों, वर्ण-व्यवस्था पर आधारित ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र आदि विभेदों में बँटे लोगों की संख्या भी दर्ज की जाती थी।

उदाहरण के लिए सन् १९४१ की जन-गणना की रिपोर्ट से यह पता लगाना आसान है कि काश्मीर राज्य की ४०,२१,६१६ जन-संख्या में ३१,०१,२४७ मुसलमान हैं, ८,०६,१६५ हिन्दू हैं (जिनमें काश्मीर के ७६,८६८ पंडित भी सम्मिलित हैं), ६५,९०३ सिख हैं, ४०,६९६ बौद्ध हैं, ३०७९ ईसाई हैं और १५२६ जैन-पारसी-यहूदी-यूरोपीय आदि मिला कर हैं। इन सम्प्रदायों के लोग जम्मू, काश्मीर या सीमान्त प्रदेशों (लद्दाख, बाल्तिस्तान और दरदिस्तान आदि) में किस संख्या में बँटे हुए हैं, इस जन-गणना से यह भी ज्ञात हो जाता है। परन्तु उससे यह पता लगाना कठिन है कि काश्मीर-राज्य में कितनी जातियां बसती हैं और उनकी जन-संख्या कितनी है और उस जन-संख्या में शिक्षित मनुष्यों का अनुपात कितना है। केवल यह जान लेना कि सारे राज्य में ७ प्रतिशत लोग शिक्षित हैं, जिनमें ४.२ प्रतिशत मुसलमान, १५ प्रतिशत हिन्दू, ३२ प्रतिशत सिख और ५.१ प्रतिशत बौद्ध शिक्षित हैं, पर्याप्त नहीं है और इस सूचना का आधार भी साम्प्रदायिक है।

वस्तुतः इस प्रकार की दूषित जन-गणना के फल-स्वरूप हर समस्या को संकुचित साम्प्रदायिक दृष्टि से देखना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरण के लिए काश्मीरी पंडित अपने को काश्मीर में एक अल्प-संख्यक जाति समझते हैं, जब कि जातीय दृष्टि से उनमें और काश्मीरी मुसलमानों में कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार शिक्षा और संस्कृति से संबन्ध रखने वाले प्रश्नों पर भी लोग साम्प्रदायिक ढंग से सोचने लगे हैं, जिससे भारत में एकदम भिन्न जातियों को एक ही ढाँचे में ढालने की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही है, और विभिन्न जातियों के विशिष्ट जीवन को बलात् दबाकर उनकी प्रकृत प्रतिभा को कुचल डालना केवल क्षम्य ही नहीं औचित्यपूर्ण लगने लगा है। काश्मीर के नेता भी प्रारंभ में इस साम्प्रदायिक नागफाँस में फसने से अपने को बचा नहीं पाये। परन्तु 'नया काश्मीर की योजना' में उन्होंने साम्प्रदायिक नहीं वरन् जातीय दृष्टि से समस्याओं पर सोचा है। और यदि वे इस योजना को कार्यान्वित करने से पीछे न हटें तो निश्चय ही जातीय समस्याओं और उनके समाधानों को साम्प्रदायिक दलदल में से बाहर निकालकर वे काश्मीर की जातियों को तो विकास-पथ पर अग्रसर करेंगे ही, साथ ही भारत और पाकिस्तान को भी इस दलदल में से बाहर निकलने की प्रेरणा देंगे। 'भविष्य की समस्याओं' पर विचार करते समय हम इस प्रश्न का सम्यक् विवेचन करेंगे। यहां पर काश्मीर राज्य की विभिन्न जातियों का संक्षिप्त परिचय देना ही अभिप्रेत है।

प्राचीन विवरणों में काश्मीर की घाटी और उसके सीमान्त प्रदेशों में

प्राचीन विवरण वसनेवाली विभिन्न जातियों के जो उल्लेख आये हैं, उनसे वर्तमान जातियों के पूर्व नाम-रूप जानने में सहायता मिलती है।

काश्मीर घाटी में प्राचीन काल में विभिन्न जातियां बसती थीं, इसका पता पुराने विवरणों से नहीं मिलता। अर्थात् उस काल में भी यहां की जातियों में वही सामान्य एकता थी जो आज है। ह्वेनसांग ने 'की-ली-तो' नाम की किसी जाति का जिक्र करते हुए लिखा है कि वे लोग काश्मीर के आदि-निवासी थे और बौद्धों के विरोधी थे। परन्तु ये लोग कौन थे, यह इस समय अज्ञात है। उन्हें 'कृत्य' या जनरल कनिंघम के 'कीर' कहना प्रमाण-सिद्ध नहीं है।

कल्हण ने काश्मीर की जनता के विभिन्न क़बीलों का ज़िक्र किया है, परन्तु ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे यह निर्णय किया जा सके कि यह भेद जातिगत था और वर्ण या कर्म-भेद पर आधारित नहीं था। कल्हण ने 'लवण्यस' और 'तंत्रिन' आदि 'क्रामों' (क़बीलों) का ज़िक्र किया है। वे गाँव के मुसलमानों में 'लोन' और 'तांत्रि' के रूप में अब भी मिलते हैं। परन्तु इन 'क्रामों' द्वारा उस समय चाहे जो भेद प्रकट किया जाता हो, आजकल ये लोग अन्य साधारण काश्मीरियों से भिन्न नहीं हैं।

राजतरंगिनी से यह भी ज्ञात होता है कि ये क़बीले काश्मीर घाटी के विशेष क्षेत्रों में नहीं रहते थे, बल्कि सारी घाटी में फैले हुए थे। उनमें से केवल 'डूम्ब' (डोम्ब) नहीं बदले। वे आज भी नीच कार्य करते हैं, जैसे कल्हण के समय में करते थे। 'वातलों' की तरह ये लोग भी हीन और निकृष्ट समझे जाते हैं, और दूसरे काश्मीरी उनसे विवाह-संबंध नहीं करते। इस कारण इन लोगों की आकृति में अपनी मूल जिप्सी रूप-रेखा बाकी है।

राजतरंगिनी के अनुसार घाटी के दक्षिण और पश्चिम के पहाड़ी इलाक़ों में 'खश' जाति रहती थी। दक्षिण-पूरब में किश्तवाड़ की घाटी से लेकर पश्चिम में वितस्ता की घाटी तक एक अर्ध-वृत्ताकार क्षेत्र में इस जाति की बस्तियां फैली हुई थीं। प्राचीन 'खश' आजकल के 'खख' हैं।

वितस्ता-घाटी के उत्तर में किशन-गंगा तक 'बम्ब' जाति रहती थी। 'शारदी' के ऊपर किशनगंगा की घाटी में उस समय भी 'दरद' जाति रहती थी। दरद काश्मीर के उत्तरी पड़ोसी थे। मेगस्थनीज़ को उनके सिर्फ़ उत्तरी सिंध प्रदेश में रहने का पता था। कल्हण ने उत्तर के 'म्लेच्छों' का भी उल्लेख किया है। संभवतः इस शब्द का प्रयोग उसने मुसलमान हुए दरदों के लिए किया था, जो

सिंध और उसके आगे बसते थे।

काश्मीर के उत्तर-पूरब और पूरब में 'भौट्ट' रहते थे—तिब्बती जाति के लोग।

प्राचीन काल में सीमान्तों पर बसने वाली ये जातियाँ कभी-कभी काश्मीर के आधीन भी रही हैं, परन्तु अधिकतर खश, बॅम्ब और दरद जातियों से छोटे-मोटे युद्ध होते रहते थे, क्योंकि विवरण के अनुसार ये जातियां अत्यन्त उपद्रवी थीं।

भौगोलिक दृष्टि से हमने काश्मीर राज्य को तीन पर्वतीय-क्षेत्रों में बाँटा था। इन तीनों क्षेत्रों में जो अनेक जातियाँ बसती हैं उनकी व्युत्पत्ति या तो आर्य है या तुरानियन। परन्तु ये जातियाँ प्राचीन काल से ऐसी नीची पहाड़ियों या घाटियों में बसती आई हैं जिन्हे ऊचे-ऊचे पर्वत विभाजित करते हैं, जिसके कारण परस्पर-संबंधित जातियां में भी एक लम्बे काल की पृथकता के कारण चारित्रिक भिन्नता आ गई है। फ्रेडरिक ड्रू ने इन जातियों की तालिका इस प्रकार दी है—

वर्तमान जातियाँ

आर्य

डोगरा	काश्मीरी
चिबाली	दरद
पहाड़ी	

तुरानियन

तिब्बती (अर्थात् बाल्ती, लद्दाखी और चाम्पा)

डोगरा और चिबाली एक ही जाति के हैं, परन्तु अब उनमें सांस्कृतिक भेद उत्पन्न हो गया है। ये जातियां नीचे के मैदान और बाह्य-पर्वतों के प्रदेश में रहती हैं। दोनों आर्य कुल की जातियां हैं और परस्पर-संबंधित हैं। केवल धार्मिक और सामाजिक भेद ने उनमें साधारण-सा जातीय-भेद भी उत्पन्न कर दिया है।

डोगरा

'डोगरा' द्विगर्त-देश की जाति है। जम्मू के निकट मानसर और सरोंई सर नाम की दो पवित्र झीलें हैं। इनके कारण संस्कृत में निकटवर्ती प्रदेश को 'द्विगर्तदेश' कहते थे। उससे 'दुगर' और 'डोगरा' निकला। डोगरों की आकृति सुन्दर होती है। साधारण कद, छरहरा बदन, ऊँचे मस्तक, दुबली टांगें, बादामी रंग, सुन्दर मुख, किंचित् टेढ़ी झुकी सी नाक, घने भूरे रंग की आंखें और काले बाल—डोगरों की आकृति की यही विशेषताएं हैं।

अन्य भारतीय हिन्दुओं की ही तरह डोगरों में भी वर्ण-भेद और कर्म-भेद के अनुसार अनेक उप-जातियां हैं, जैसे ब्राह्मण, राजपूत (मियां और राजपूत), खत्री, ठाकर, जाट, वनिया, क्कार, नाई और जीवर (कहार)। ध्यार, मेघ और डूम आदि अछूत जातियां हैं।

स्थानिक कारणों से राजपूतों में अनेक विभेद हो गये हैं, जैसे जम्वाल, वलोरिया, जसरोटिया आदि। जम्मू, वलावर और जसरोटा के राजाओं के वंश से संबंध रखने के कारण ये नाम पड़ होंगे।

मध्यकाल में हर दस मील पर इस प्रदेश में एक छोटा राजा हुआ करता था। राजपूत राज करते थे या फ़ौज में भरती होते थे। इसी कारण जम्मू में राजपूतों में दो वर्ग पैदा हो गये हैं। एक वर्ग 'मियां राजपूत' कहलाता है, दूसरा केवल राजपूत या किसान राजपूत। 'मियां' हिन्दी का शब्द है, जिसका अर्थ है 'स्वामी'। यह शब्द सम्मान-सूचक सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त होता है।

मियां कुछ काम नहीं करते। हल पकड़ना उनके लिए पाप है। शिकार खेलना उनका प्रधान व्यसन है। उन्हें अधिकतर ज़मीन मुफ्त मिली हुई है, जिसे किसान जोतते हैं। आजकल ये लोग राज-कर्मचारी वनने लगे हैं और डोगरा-फ़ौज में भी भरती होते हैं।

महाराजा गुलावसिंह के पहले तक मियां राजपूतों में अपनी लड़कियों का वध कर देने की प्रथा थी। या तो लड़की को वे जिन्दा ही दफ़ना देते थे, या जंगल में छोड़ आते थे। किसी दूसरे के घर में व्याह कर अपनी लड़की को भेजना उन्हें सह्य न था। परिणामस्वरूप मियां राजपूतों को किसान राजपूतों या ठाकरों की लड़कियों से विवाह करना पड़ता था। परन्तु उनके घर में आकर लड़की पुनः कभी अपने मायके का मुख नहीं देख सकती थी। अव लड़कियां मारने की प्रथा वन्द हो गई है तो मियां लोग वहुधा आपस में ही शादी-विवाह करने लगे हैं।

खाने-पीने में मियां लोग छूआ-छूत वरतते हैं। उनके यहां जव किसी वृद्ध व्यक्ति की मृत्यु होती है, तो वे शोक न मनाकर खुशी मनाते हैं। अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते हैं और खुशी के गीत गाते हैं। फिर शादी के जुलूस की तरह शानदार जुलूस वनाकर अर्थी ले जाते हैं। परन्तु वे हिन्दुओं की तरह इस अवसर पर अपनी दाढ़ी-मूछें और सिर मुड़वाते हैं।

मियां डोगरों के स्वभाव के वारे में अधिकतर लोगों का यही अनुभव है कि इन लोगों में जितना दम्भ है, उतनी वुद्धि नहीं होती। हठधर्मी, निरंकुश और लालची स्वभाव के होते हैं।

महाराजा हरीसिंह भी मियां राजपूत खान्दान का है। और डोगरा-शासन ने काश्मीर में जिस निरंकुशता और अदूरदर्शिता का परिचय दिया है, उससे उनके स्वभाव के संबंध में प्रचलित धारणा और अधिक पुष्ट ही होती है।

किसान और ठाकर राजपूत मुख्यतः खेती करते हैं या फ़ौज में भरती होते हैं। मियां घरों में उनकी लड़कियां ब्याही जाती रही हैं, परन्तु वे मियों की लड़कियां स्वयं ब्याह कर नहीं ला सकते।

डोगरा खत्री उच्चवर्ग के वणिक होते हैं। वे मुन्शीगीरी का पेशा करते हैं। राजपूतों से यद्यपि अपेक्षाकृत कम सुन्दर, परन्तु अधिक कुशाग्र-बुद्धि के होते हैं।

इनसे नीचे बनिया, कार, नाई और जीवर आदि हैं। जीवर कहार वर्ग के हैं जिनका कार्य पालकी ढोना, चौका-बर्तन करना, आटे की पनचक्कियां चलाना आदि है।

ध्यार, मेघ और डूम अछूत वर्ग के लोग हैं। ये लोग आर्यों से पूर्व के आदि-निवासियों के वंशज हैं। ध्यार लोहा तपाते हैं। ईंटें पाथना, कोयला बनाना आदि और दूसरे निकृष्ट समझे जाने वाले काम ये लोग ही करते हैं।

मेघ और डूम आदि का रंग सांवला और क़द छोटा होता है और मुख पर कम घनी दाढ़ी होती है।

डुग्गर देश में लोग अधिकतर हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं। काफी संख्या इस्लाम के अनुयायियों की भी है, ये लोग मुख्यतः जुलाहे का काम करते हैं।

डुग्गर-देश में 'डोगरी' भाषा बोली जाती है जिसके बोलने वालों की संख्या २,८३,४७१ है।

चिबाली

'चिबाल' बाह्य-पर्वतों के क्षेत्र के उस भाग को कहते हैं जो पूरब में चिनाब और पश्चिम में झेलम के बीच में स्थित है। अतः इस प्रदेश के निवासी चिबाली कहलाते हैं।

'चिबाल' शब्द 'चिब' से निकला है। 'चिब' एक राजपूत कबीले का नाम था। ये चिबाली पहले 'डोगरा' रहे होंगे क्योंकि उनकी अनेक उप-जातियों के नाम डोगरों से मिलते-जुलते हैं। चिबाली अधिकतर इस्लाम के अनुयायी हैं, परन्तु राजपूतों (हिन्दू) में चिब, जराल, पाल आदि जो उपजातियां हैं, वे मुसलमानों में भी हैं। केवल इतना ही नहीं, ये मुसलमान आज भी एक सीमा तक हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के नियमों का पालन करते जाते हैं। उनमें खान-पान का व्यवहार तो एक हो गया है, परन्तु शादी-विवाह में वे हिन्दू-रीति को ही बरतते हैं, अर्थात् या तो अपनी ही जाति में शादी करेंगे या अपने से नीची जाति की

लड़की लायेंगे और अपनी लड़की का विवाह ऊँची जाति में ही करेंगे। राजपूतों के अतिरिक्त जाट और ठाकरों ने भी बड़ी संख्या में वहां पर इस्लाम अपना लिया है।

इसके अतिरिक्त चिवाल में अनेक ऐसी जातियां हैं जिनकी व्युत्पत्ति के बारे में सब कुछ अज्ञात है।

इनमें से पुंछ और झेलम के बीच में मिलने वाली 'सूदन' जाति है। सूदन एक ऊँची जाति समझी जाती है और उसका चिवालियों में वही स्थान है जो डोगरों में मियां वर्ग के राजपूतों का है। सूदन और दूसरी उच्च जातियों को चिवाल में 'साहु' कहकर पुकारते हैं।

दरहाल घाटी के उच्चतम भागों में (अर्थात् रजौरी के उत्तर-पूरब में) 'मलिक' बसते हैं। यह उपाधि अकबर की दी हुई है। ये मलिक प्रारंभ में किस जाति के थे, मुग़ल अथवा काश्मीरी, यह कहना कठिन है। दर्रों की हिफ़ाजत के लिए मुगलों ने 'मलिक' नियुक्त किये थे। उन्हें गांव दिये थे जो नौकरी के दौरान में उनके पास रहते थे। कालान्तर में यह पद पैतृक हो गया। मलिक अपनी बेटियां जरालों में व्याहते हैं। जराल (पुराने राजपूत) रजौरी पर राज करते थे।

चिवाली आकृति में डोगरों से मिलते-जुलते हैं। परन्तु वे डोगरों की अपेक्षा अधिक हृष्ट-पुष्ट और परिश्रमी होते हैं।

अत्यन्त उत्तर-पश्चिम में दो जातियां बसती हैं, जिन्हें भी चिवाली ही कहना उपयुक्त होगा। यह जातियां 'खख' और 'बॅम' हैं। जिगल और मुज़फ्फराबाद के बीच में 'खख' वितस्ता-घाटी के बायें तट पर और 'बॅम' दाहिने तट पर बसते हैं। इन जातियों के उपद्रवों का उल्लेख विवरणों में बार-बार हुआ है। क़बाइली हमले के पूर्व काश्मीर में बच्चों को 'खोख्य' (खख का बहुवचन) के नाम से डराते थे।

ये दोनों जातियां काश्मीरियों और चिवालियों के बीच की हैं।

'खख-बॅम' प्रदेश के नीचे कोटली और मीरपुर के इलाके में एक 'गक्खड़' जाति रहती है जिसे 'साहु' वर्ग में ही गिनना चाहिए। गक्खड़ अधिकतर झेलम के दाहिने तट पर पाकिस्तान के इलाके में बसे हुए हैं। वहां पर अनेक किलों और राज-महलों के भग्नावशेष हैं। कहते हैं कि रामकोट का दुर्ग 'तोग्लू' नाम के किसी गक्खड़ ने बनवाया था।

चिवाल के पूर्वी भाग में चिवाली मुसलमानों के घरों में कुछ वर्ष पूर्व तक देवताओं की मूर्तियां भी होती थीं, और सन् १८७५ तक वे हिन्दू घरों की लड़कियों से विवाह भी करते थे। उनके घरों में आकर भी वे हिन्दू ही बनी रहती थीं।

मुज़फ्फराबाद, मीरपुर और पुंछ आदि में कुछ गांव सिखों के हैं। ये लोग चिवाली नहीं हैं, वल्कि पंजावी सिख हैं, जो सिख-शासन के समय यहां पर अपने उपनिवेश वसाकर रहने लगे थे।

पहाड़ी

मध्य के पर्वतों के समूचे प्रदेश में पहाड़ी जातियां वसती हैं। पश्चिम में अस नदी की घाटी में स्थित वूदिल तक पहाड़ी जातियां फैली हुई हैं। उसके आगे के लोग चिवाली जाति के हैं।

पहाड़ी लोग अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट, परिश्रमी और कर्मठ होते हैं। उनकी पेशानी सीधी, भौंहें सुन्दर, नाक विशेषकर टेढ़ी, केश काले और लम्बे, दाढ़ी-मूछें घनी परन्तु छोटी होती हैं।

पहाड़ी गरम पट्टू के कपड़े पहनते हैं। वहुधा उनका कोट लम्बा होता है। कई लपेटें देकर ऊनी कमरवन्द से उसे वांधते हैं। चूड़ीदार पाजामा पहनते हैं। उनकी टोपी विचित्र प्रकार की होती है, गोल जिसमें पार्श्व से ऊपर की ओर को मुड़े परदे होते हैं। ये लोग लोई ओढ़ते हैं। स्त्रियां भी लम्बा चोगा पहनती हैं, कमरवन्द वांधती हैं और गोल लाल टोपी लगाती हैं।

मध्य-पर्वतों के प्रदेश में सारे किसान डोगरा जाति के ठाकर हैं और डूम और मेघ हर जगह विखरे हुए हैं।

इस प्रदेश के दक्षिण-पूरब के कोने पर जहां से चम्बा-प्रदेश की सीमा शुरू होती है, गद्दी जाति मिलती है। यह जाति संभवतः कभी चम्बा की पहाड़ियों से

गद्दी

आई थी। गद्दी हिन्दू-सम्प्रदाय के हैं और उनमें भी वैसा ही वर्ण-भेद है, यद्यपि वे कट्टरतापूर्वक उसका पालन नहीं करते। ये लोग भेड़ों के गल्ले लेकर अनुकूल मौसम होने पर ऊंचे स्थानों पर चले जाते हैं। तवी नदी की घाटी के ऊपरी भाग में भी थोड़े-से गद्दी रहते हैं। अन्य पहाड़ी जातियों से ये गद्दी एकदम भिन्न जाति के नहीं लगते, क्योंकि उनकी आकृति उनसे मिलती-जुलती है। उनकी वेष-भूषा में केवल एक विशेषता है कि उनकी सख्त कपड़े की टोपी कुछ विशिष्ट प्रकार की होती है।

गूजर या गुज्जर गद्दियों की तरह पहाड़ों पर नहीं रहते, वल्कि नीचे घाटियों में मकान वनाकर रहते हैं। ये गूजर उस जाति (क़वीले) के हैं जो दिल्ली से सिंध

गूजर

नदी तक विभिन्न स्थानों पर विखरी हुई हैं। यहां वे पहाड़ों से वाहर मैदानों में रहते हैं, या नीची पहाड़ियों पर या घाटियों में। कहीं-कहीं पूरे गांव गूजरों के हैं। परन्तु ये लोग पूरी

तरह खेती पर निर्भर नहीं करते। अपनी गाय-भैंसें लेकर घूमते रहते हैं। ये लोग इस्लाम के अनुयायी हैं।

गूजर आर्य-कुल की जाति है। परन्तु गूजरों की आकृति उच्च-आर्यों जैसी नहीं होती। उनका माथा संकुचित, भौंहें साधारण, नीचे का मुख भी संकुचित, हल्के रंग की आंखें, दाढ़ी बेगरी और क़द लम्बा और दुबला होता है। परन्तु उनकी नाक अवश्य आर्यों जैसी वक्र होती है। ये लोग ढीले, छोटे पाजामे पहनते हैं, ऊपर का भाग नंगा रखते हैं। साथ में लोई लेकर चलते हैं। काश्मीर में काश्मीरियों जैसा लिबास पहनते हैं। भैंसें पालते हैं और घी-दूध बेचते हैं। उनकी कोई एक भाषा नहीं है। जाड़ों में जहां बसते हैं, वहीं की बोली बोलते हैं।

गूजर आमतौर पर माँ को 'आमी' बहन को 'बीबी' या 'इधी', बेटे को 'गडारा', बेटी को 'गडारी', बेटे की स्त्री को 'बन', पति की बहन को 'नंद' और दूध मथने को 'मेलना' आदि कहते हैं।

पहाड़ी अनेक बोलियां बोलते हैं। हर बीस मील पर बोली बदल जाती है। रामबन, डोडा, किश्तवाड़, पाडर और भद्रवाह की बोलियां भिन्न-भिन्न हैं, यद्यपि एक-दूसरे के अत्यन्त निकट हैं।

पहाड़ी जातियों के प्रदेशों में काश्मीरी भी काफ़ी संख्या में जा बसे हैं। भद्रवाह और किश्तवाड़ की आधी जन-संख्या काश्मीरियों की है।

सीमान्त प्रदेश की जातियां

उच्च पर्वतों की प्रधान शृंखला के पूर्वोत्तर प्रदेश में जिसे आजकल राजकीय व्यवहार में सीमान्त प्रदेश (फ्रन्टियर इलाका) कहते हैं, मनुष्य की चार जातियां बसती हैं—चाम्पा, लद्दाखी, बाल्ती और दरद। इनमें से पहली तीन जातियां तूरानियन (तिब्बती) नस्ल की हैं, और अन्तिम आर्य वंश की। तूरानियन वंश की जातियां हिमालय को पीठ पर चीन के मैदानों से लेकर काश्मीर के लद्दाख और बाल्तिस्तान प्रदेशों तक एक विशाल भूभाग में फैली हुई हैं। लद्दाख और बाल्तिस्तान इन जातियों के सबसे पश्चिमोत्तर प्रदेश हैं।

लद्दाखी

लद्दाखी जाति तिब्बती-वंश की है जो सिंध-घाटी में और उसकी पार्श्ववर्ती घाटियों में स्थायी रूप से मकान बनाकर रहती है। इस जाति ने इस प्रदेश की समस्त कृषि-योग्य भूमि जोत डाली है। लद्दाखी बौद्ध मतावलम्बी हैं। लद्दाखियों को 'भोट' या 'भुट्ट' कहते हैं।

लद्दाखियों की आकृति तूरानी है, जिसे चीनी भी कह सकते हैं। उनकी गाल की

हड्डी ऊंची उठी हुई होती है, वहां से नीचे का मुख तीव्रता में संकुचित हो जाता है। चिवुक छोटी और भीतर की ओर को झुकी होती है। आंखें विशेष प्रकार की हैं। बाहर की कोर अधिक निकली रहती है और पलक के ऊपरी भाग पर भौंह के चर्म की एक शिकन लटकी रहती है। आंखें भूरे रंग की, नाक चिपटी, मुख बड़ा परन्तु भाव-हीन, ओंठ पतले परन्तु प्रलम्बित और बाल काले होते हैं। ये लोग अपने बालों को सामने से और बगल से खूब मिलाकर काटते हैं और पीछे की ओर एक विशाल शिखा रखते हैं जिसकी लटें गर्दन तक लटकती हैं। उनकी मूंछें छोटी होती हैं और दाढ़ी में बहुत थोड़े बाल होते हैं।

लद्दाखियों का पहनावा अत्यन्त साधारण होता है। उनके ऊन के कपड़े बहुधा धूसर ताम्रवर्ण के होते हैं। पुरुष खूब ढीला-ढाला-सा चोग़ा पहनते हैं, जिसे आगे की ओर दुहरा कर ऊनी कमरबंद से बांधते हैं। इस चोगे के नीचे वे लोग और कुछ नहीं पहनते। इसके अतिरिक्त जूते, टोपी और ऊनी चादर, बस यही उनका पहनावा है। स्त्रियां नीले और लाल रंग का घाघरा पहनती हैं, जिसमें खड़ी कलियां जोड़कर अनेक तहें पड़ी रहती हैं। वे अपने कंधों पर ऊन का अस्तर लगा हुआ भेड़ के चर्म का शाल भी डालती हैं। सिर में एक रूमाल बांधती हैं जिसमें माथे से लेकर सिर के मध्य तक शंख या नील मणियां टंकी रहती हैं और कानों पर सलोम चर्म लगे कपड़े की झालर लटकती रहती है।

लद्दाखियों के लिए उनके पहनावे में जूतों का सबसे ज्यादा महत्व है। जूते पथरीली भूमि और ठंड से उनकी रक्षा करते हैं। एक मोटे चमड़े का तला होता है जो पांव को ढंकने के लिए भी घुमा दिया जाता है। उसके ऊपर फेल्ट या कपड़ा घुटनों तक लपेटा जाता है। उसके ऊपर फेल्ट की गेटिसें बांधी जाती हैं। सबसे ऊपर कई बार घुमाकर एक पट्टी बांधी जाती है। स्त्री-पुरुष दोनों एक-से ही जूते पहनते हैं।

लद्दाखियों के स्वभाव के विषय में प्रसिद्ध है कि ये लोग खुश-मिज़ाज,. शान्तिप्रिय और सरल प्रकृति के होते हैं; हठी और झगड़ालू नहीं होते। खूब दिल खोलकर हँसते हैं। 'चंग' उनका जातीय पेय है। यह एक नशीली शराब होती है। चंग के नशे में यदि वे झगड़ा करते हैं तो नशा उतरते ही सब-कुछ भुला देते हैं। परन्तु लद्दाखी मौलिक प्रतिभा के लोग नहीं हैं। काफी सरल और अनाड़ी होते हैं। काश्मीरियों की तरह चुस्त, सर्वतोमुखी प्रतिभा के और प्रत्यक्षतः युक्ति-युक्तपूर्ण बात करने वाले नहीं होते। इसके विपरीत लद्दाखी आलसी, अपटु और सच बोलने के सख्त आदी होते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे मूर्ख और नासमझ होते हैं।

जिस बात को समय और परिश्रम लगाकर समझने की चेष्टा करते हैं उसे सफ़ाई से समझ लेते हैं। मेजर गाडविन आस्टेन का कहना है कि भारत के अन्य लोगों की अपेक्षा लद्दाखी मानचित्र को समझने में सबसे ज्यादा कुशाग्र-बुद्धि के होते हैं।

लद्दाखियों में भी वर्ण-भेद है, यद्यपि अधिक नहीं। 'ग्याल्पो' या राजा एक वर्ग के होते थे, 'जिरक' या राजकर्मचारी दूसरे वर्ग के होते हैं, 'मुंगरिक' लोग किसान होते हैं, और 'रिंगन' हीन-कार्य करने वाले लोग हैं। लुहार और गानेवाले भी नीचे वर्ण के समझे जाते हैं। उन्हें 'बेम' पुकारते हैं। कोई साधारण लद्दाखी उनके यहां शादी-विवाह नहीं करता। 'लामा' पुरोहित होते हैं, परन्तु यह पद उन्हें वंशानुगत प्राप्त नहीं है। कोई भी व्यक्ति 'लामा' बन सकता है।

चाम्पा

चाम्पा जाति के लोग 'रुप्शु' की ऊंची घाटियों में रहते हैं। ये लोग लद्दाखियों से बहुत भिन्न हैं यद्यपि उसी नस्ल के हैं, और संभवतः लद्दाखियों के पूर्वज हैं, चाम्पा लोग ख़ानाबदोश ज़िन्दगी बसर करते हैं, अपनी भेड़-बकरियों के गल्ले लेकर ऊँची घाटियों और पर्वतों पर चारागाहों की खोज में घूमते-फिरते हैं।

लद्दाखियों से उनकी आकृति में केवल इतना भेद होता है कि उनकी चिबुक कुछ बाहर को निकली होती है, और उनके मुख भी कुछ अधिक भावपूर्ण होते हैं। ये लोग भी अत्यन्त कर्मठ और हास्य-प्रिय हैं। जीवन की दुर्निवार कठिनता के बावजूद उनका हास्य मुक्त और सरल है। उनका पहनावा भी लद्दाखियों जैसा ही है, केवल ऊनी चोगे की जगह भेड़ के चर्म का चोग़ा पहनते हैं।

चाम्पा और लद्दाखियों में विवाह-संबंध नहीं होता। दोनों जातियां एक ही धर्म की अनुयायी हैं, परन्तु चाम्पा उतने कट्टर नहीं होते। काश्मीर राज्य में बहुत थोड़े चाम्पा बसते हैं—लगभग एक हजार। रुप्शु के दक्षिण-पूर्व में 'लासा' की सरकार के अन्तर्गत जो प्रदेश हैं उनके निवासियों से चाम्पा मिलते-जुलते हैं। संभवतः वे एक ही जाति के हैं।

अधिकांश लद्दाखी खेती करते हैं। कारीगर वर्ग के लोग बहुत कम हैं, और दुकानदारी अधिकतर विदेशी (काश्मीरी आदि) या उनके संसर्ग से उत्पन्न वर्ण-शंकर जाति के हाथ में है। इस प्रकार लद्दाख के निवासी धरती-पुत्र हैं। किसान स्वयं अपनी ज़मीनें जोतते हैं। हर परिवार के पास दो से चार एकड़ तक कृषि-योग्य भूमि है।

जीवन-निर्वाह का ढंग

इसकी पैदावार से तथा अन्य प्रकार की मेहनत-मजूरी करके वे सरकारी कर देने के बाद किसी तरह अपना पेट-पालन कर लेते हैं। परिवार के

बेटे आपस में जमीन बांटते नहीं हैं, बल्कि शामिल रहकर काम करते हैं। उच्चवर्ग के लोग भी धरती से ही संबंधित हैं। उन्हें या तो सरकार से मुफ्त जमीन मिली होती है, या उनके पास औरों से ज्यादा ज़मीन होती है, जिसे वे मजदूरों से कमवाते हैं।

लद्दाख की प्रधान पैदावार जौ है। जौ १४ हज़ार फुट की ऊंचाई पर भी पैदा हो जाता है। नीचे स्थानों में गेंहू भी बोते हैं, परन्तु लद्दाखी गेंहू बहुत कम खाते हैं। वहां पर फसल तैयार करने के लिए कई बार सिंचाई की ज़रूरत पड़ती है, यद्यपि लद्दाख में धूप खूब निकलती है जिसके कारण फसल खराब होने का डर नहीं रहता, परन्तु ज़ांस्कार के ऊपरी भाग में, जो चिरस्थायी हिमाच्छादित पर्वतों के निकट है, सूरज इतना नहीं तपता कि फसल पक सके।

लद्दाख में याक और साधारण गाय के खच्चर खेत जोतते हैं। ऐसे मिश्र पशु को 'ज़ो' पुकारते हैं और उसकी मादा को 'ज़ोमो' कहते हैं। फ़सल या तो हँसिये से काटी जाती है या मुलायम धरती में से खींचकर निकाल ली जाती है।

लद्दाखियों का भोजन अत्यन्त साधारण होता है। सुबह नाश्ते के समय जौ का दलिया खाते हैं, दोपहर को मक्खन-दूध के साथ जौ का सत्तू और रात को पुनः दलिया खाते हैं। दलिया के साथ चाय, गोश्त या सब्ज़ी वगैरह भी मिल जाने पर जोड़ते हैं। अन्य भारतीयों की तरह ये लोग खान-पान के बारे में बहुत नियम-पाबन्दी के क़ायल नहीं होते कि क्या खाना चाहिए, कैसे खाना चाहिए, गोश्त झटके का हो या हलाल का। गोश्त के लिए पशुओं को मारने का उनका ढंग यह है कि वे जानवर का मुंह बाँधकर उसका दम घोंट देते हैं।

उनका सबसे प्रिय पेय 'चंग' है। यह एक प्रकार की 'बियर' होती है जो लद्दाखी स्वयं तैयार करते हैं। चाय उनका दूसरा प्रिय पेय है। परन्तु लोग इतने निर्धन हैं कि चाय प्राप्त करना दुष्कर हो जाता है।

इस सूक्ष्म भोजन और पेय पर जीवित रहकर भी लद्दाखी संसार की सबसे कर्मठ जाति है। बोझ उठाने में तो अद्वितीय है। स्त्रियाँ भी सिर पर भारी बोझ लादकर बीस-पचीस मील का सफर तय कर डालती हैं, फिर भी उनके खुशी के गीत बन्द नहीं होते। लद्दाखी जाड़े के विरुद्ध भी अत्यन्त सहनशील होते हैं—चाम्पा लोगों की तुलना में तो नहीं, लेकिन काश्मीरियों से कहीं ज्यादा। चाम्पा तो ११ हज़ार फुट से नीचे की गरमी बर्दाश्त ही नहीं कर सकते।

परन्तु लद्दाखियों में न नहाने की प्रथा है। वर्ष में केवल एक बार नहाने का ही चलन है। उनके कपड़े भी कभी नहीं धोये जाते, और जब तक फटकर चीथड़े नहीं बन जाते तब तक वे उन्हें उतार कर नहीं फेंकते।

जलाने वाली लकड़ी की कमी के कारण लद्दाखी पशुओं के गोबर या लीद को इस्तेमाल में लाते हैं। कभी-कभी पहाड़ियों से 'वर्त्से' की झाड़ी खींचकर निकाल लाते हैं। इस छोटी-सी झाड़ी का पौधा जलने में अच्छा होता है। ऊँची घाटियों में 'दाम' नाम का एक और पौधा होता है। परन्तु ये झाड़ियाँ इतनी दूरी पर मिलती हैं कि उनको ढूंढ कर लाना कठिन होता है। इसलिए अपने घरों में वे कंडों का ही इस्तेमाल करते हैं और झाड़ियां यात्रियों और व्यापारियों के हाथ बेचने के लिए रख छोड़ते हैं। मकान बनाने की लकड़ी भी बहुत कम होती है, केवल बेद और सफेद के थोड़े से पेड़ होते हैं।

लद्दाखियों के मकान या तो कच्ची ईंटों के हैं या पत्थर के; एक या दो मंजिल के और चौरस छत के होते हैं। प्रत्येक घर में एक बैठक होती है, जिसे विशेष रूप से साफ़-सुथरा रखा जाता है। मेहमान आने पर इस कमरे में वे फेल्ट बिछा देते हैं। लद्दाख के सारे मकानों पर सफ़ेदी की जाती है, जिससे इस नंगे पर्वतों के प्रदेश में उनकी श्वेत कतारें देखने में अत्यन्त भव्य लगती हैं। अभिजात घरों में बौद्धधर्म के उत्सव मनाने के लिए एक प्रार्थना या उपदेश-गृह (कमरा) भी रहता है।

लेह का राजप्रासाद और कतिपय बौद्ध-मठ वहां के सबसे सुन्दर भवन हैं। राजप्रासाद की बनावट विचित्र है। कमरों की योजना अत्यन्त क्रमहीन और अव्यवस्थित है। कमरे एक ही मंजिल के भाग नहीं हैं, बल्कि ऊँची-नीची छतों के हैं और संकुचित और नीची गलियों द्वारा एक-दूसरे से संबद्ध हैं। दो-तीन बड़ी बैठकें हैं। जाड़ों में आग जलाने के लिए बीच में उनकी छतें कुछ खुली रखी गई हैं। छतें बीच में पड़ी शहतीर पर रखी हुई धन्नियों पर छायी गई हैं। लकड़ी पर सुन्दर खुदाई की गई है और दीवारों पर धार्मिक चित्र बने हैं।

लद्दाख में स्त्रियों को पूर्ण सामाजिक स्वतंत्रता मिली हुई है। उनमें परदा करने की प्रथा नहीं है; पुरुषों के साथ मिलकर काम करती हैं। उनके आनन्द और श्रम दोनों की सहभागी हैं। खेतों की देखभाल, सिंचाई आदि का कार्य स्त्रियां ही करती हैं।

सारे लद्दाख में बहु-पति प्रथा प्रचलित है। बहु-पत्नी प्रथा एक फ़िज़ूलखर्ची की प्रथा होती है, और बहु-पति प्रथा मितव्ययता की और एक अनुर्वर देश की ग़रीबी के कारण अनिवार्य हो जाती है। पुरानी व्यवस्था में लद्दाख के आर्थिक-साधन और नहीं बढ़ सकते थे और यह देश भूगोल, भाषा, संस्कृति, और रहन-सहन की दृष्टियों से अन्य प्रदेशों से इतना भिन्न है कि वहां के लोग साधारणतया दूसरे देश में जाकर नहीं बस सकते।

भी मिलती है। जब फसल कटती है, उस समय किसान अपनी पैदावार का एक अंश मठों को देते हैं।

मठों के अतिरिक्त लद्दाख में स्थान-स्थान पर शिलाओं के ऊपर बौद्ध नेताओं की विशाल मूर्तियां खुदी हुई हैं। इनके अतिरिक्त बहुधा वहां मार्गों में पत्थर की ऐसी लम्बी और मोटी दीवारें मिलती हैं जिनमें हज़ारों चौरस किये हुए पत्थर लगे हैं और जिन पर पवित्र श्लोक खुदे हुए हैं। इन्हें वहां पर 'मानी' कहते हैं। लगभग प्रत्येक गांव में मार्ग के सहारे 'मानी' बने हुए हैं। बड़े गांवों में 'कागानी' बने हुए हैं। ये 'कागानी' गांव के द्वार पर सम्हालकर ईंटों से बनाये जाते हैं। मार्ग इनके नीचे से गुज़रता है। स्मारकों की इमारत का ऊपरी भाग भी कागानी जैसा ही होता है। उन्हें 'चरतें' कहते हैं। दर्रों के दोनों ओर के शिखरों पर लद्दाखी एक समाधि बनाते हैं, जिस पर जंगली भेड़, बारहसिंघा और दूसरे जानवरों के सींग गाड़ते हैं और जिनके पीछे एक झंडा लगाते हैं जिस पर पवित्र शब्द लिखे होते हैं।

भोटों में वयस्क व्यक्ति अधिकतर पढ़े-लिखे होते हैं, संभवतः इस कारण कि हर परिवार का एक व्यक्ति लामा बनता है।

गरमियों में कुछ परिवार लासा के सुदूर पूरब के 'खम' प्रदेश से लद्दाख आते हैं। ये लोग 'खम्ब' जाति के कहे जाते हैं। आजकल ये लोग भारत की दिशा से ज़ांस्कार और रुप्शु के मार्ग से आते हैं। उनकी भाषा यद्यपि चाम्पा लोगों से भिन्न है परन्तु वह उनके लिए दुर्बोध नहीं है। ये लोग घुमक्कड़ स्वभाव के हैं और पेशेवर भिखारी हैं। ये लोग वास्तव में जिप्सी क़िस्म के हैं। अब उनमें से कुछ पांगकांग झील के किनारे बस गए हैं।

लद्दाख के उपनिवेश

दूसरा उपनिवेश बसाने वाले लोग बाल्ती हैं। द्रास और सुरु की घाटियों में बाल्ती आ बसे हैं। और पास्किम के पास पुरिक में भी बस गए हैं। परन्तु भौगोलिक दृष्टि से ये लोग अन्य बाल्तियों से विलग नहीं हुए क्योंकि द्रास और सुरु की सीमाएँ बाल्तिस्तान से मिलती हैं। लेकिन भोट-देश (लद्दाख) में भी एक बाल्ती उपनिवेश है—लेह के निकट ही। लद्दाख में जितनी कृषि-योग्य भूमि है उसका अधिक भाग इन लोगों के पास है। इस उपनिवेश का नाम 'चुशोत' है, और यह सिंध नदी के बायें तट पर स्थित है। चुशोत के बाल्ती स्कर्दू और पुरिक से आठ-दस पीढ़ियां पहले आये थे।

कुछ दरद लोग भी द्रास और द्रास नदी की घाटियों में यत्र-तत्र निवास

करते हैं। कुछ सिंध नदी की घाटी के गांवों में भोट और बाल्तियों के बीच में बिखरे हुए हैं। इन स्थानों पर दरद जाति के बौद्ध भी मिलते हैं।

लेह में अनेक मिश्रित परिवार हैं, ऐसे परिवार जो भोट स्त्रियों और बाहर से आने वाले यात्रियों के समागम से उत्पन्न हुए हैं। लेह और काश्मीर में प्राचीन काल से व्यापारिक संबंध रहा है। अतः कुछ काश्मीरी परिवार भी लेह में जा बसे हैं। काश्मीरी भोट स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं और वे शादी करने के लिए मुसलमान बनने को तैयार हो जाती हैं।

यारकन्दियों और डोगरों के समागम से वहां दो और मिश्र जातियां उत्पन्न हो गई हैं। इन लोगों को पहले गुलामज़ादा कहते थे। काश्मीरियों और यारकन्दियों से उत्पन्न लोगों को वहां 'अर्घोन' कहते हैं।

प्राचीन काल में लद्दाख तिब्बत का सुदूर पूर्वीय भाग था, और तिब्बती सूबेदार, जिसे ग्याल्पो कहते थे वहां पर शासन करता था। परन्तु सन् १५३६ ई० और फिर सन् १६८५ ई० में यारकन्द के सुलतानों ने लद्दाख पर आक्रमण किया। स्कर्दू के मुस्लिम राजाओं ने भी सन् १६२० और सन् १७२० ५० में दो बार इस देश को अपने आधीन बनाया।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में जब पश्चिमी तिब्बत और चीनी तिब्बत के राजाओं में युद्ध हुआ उस समय पश्चिमी तिब्बत के राजा ने मुग़ल सम्राट् शाहजहां से सहायता मांगी। शाहजहां ने काश्मीर से सहायता भेजी जिसके बदले में लद्दाख के राजा ने काश्मीर को लद्दाख के सारे ऊन और शाल के व्यापार का एकाधिकार दे दिया। परन्तु मुग़लों के हटते ही मंगोलों ने पुनः लद्दाख पर आक्रमण कर दिया और इस बार लद्दाख को चीनी तिब्बत के राजा को वार्षिक ख़िराज देना स्वीकार करना पड़ा।

इसके पश्चात् जम्मू के महाराज गुलाबसिंह ने सन् १८३४ में वज़ीर ज़ोरावर के सेनापतित्व में लद्दाख पर आक्रमण करने के लिए एक फौज भेजी। युद्ध में परास्त होकर लद्दाख के राजा ने पचास हज़ार रुपये हरजाने के रूप में और बीस हज़ार रुपये वार्षिक ख़िराज के रूप में देने का वायदा करके अधीनता स्वीकार कर ली। सन् १८४१ में पुनः महाराज गुलाबसिंह ने एक फौज लासा की ओर भेजी। अनेक छोटे-बड़े युद्धों के पश्चात् सन् १८४२ में लासा से संधि हो गई जिसके अनुसार लद्दाख सदैव के लिए जम्मू के राजा को मिल गया और लद्दाख और लासा के व्यापारियों को एक दूसरे के देश में व्यापार करने की पूरी आजादी मिल गई।

लद्दाखी बाल्तिस्तान को 'बाल्ती' कहते हैं और वहां के स्थानीय लोग उसे 'बल्ती-पा' पुकारते हैं, परन्तु काश्मीरी 'बाल्ती' शब्द को एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त करते हैं और देश को बाल्तिस्तान या बल्तिस्तान कहते हैं।

बाल्ती

बाल्ती भी तिब्बती जाति के लोग हैं, परन्तु इस्लाम के अनुयायी हैं। वास्तव में ये लोग लद्दाखी हैं, क्योंकि आकृति उनसे मिलती-जुलती है, केवल कपोलों की हड्डी कुछ ऊंची होती है और आंखें कोनों की ओर खिंची-सी होती हैं। भौंहें अक्सर जुड़ी होती हैं, नाक उतनी दबी नहीं होती जितनी भोटों की, और न उनकी दाढ़ी ही उतनी बेगरी होती है। बाल्ती शिखा नहीं रखते। सिर मुड़ाते हैं, केवल कनपटी के पास कुल्ले रखते हैं। किसीके कुल्ले लम्बे और किसीके घने और घुँघराले होते हैं। संभवतः जलवायु के कारण बाल्ती लद्दाखियों के समान कद्दावर और हृष्ट-पुष्ट नहीं होते। और न उनके बराबर बोझ ही उठा सकते हैं।

बाल्तियों की वेष-भूषा भी भोटों से भिन्न होती है। ये लोग घुटनों तक नीचा कोट और ऊँचा पाजामा पहनते हैं और चारखाने की चद्दर लेकर चलते हैं। सिर पर छोटी गोल टोपी पीछे की ओर को झुकाकर लगाते हैं। गांव का मुखिया ऊनी कपड़े की छोटी-सी पगड़ी बांधता है। ऊंचे वर्ग के लोग दरेस या मलमल की पगड़ी बांधते हैं। बाल्ती अक्सर नंगे पांव रहते हैं, अन्यथा जाड़ों में बकरी के मुलायम चमड़े के बालदार जूते पहनते हैं।

इस्लाम अपनाने के बाद बाल्तियों ने बहु-पति प्रथा को त्याग दिया और उसके स्थान पर बहु-पत्नी प्रथा प्रचलित कर दी, यद्यपि दोनों प्रदेशों की आर्थिक-स्थिति बहुत-कुछ एक-सी है। बाल्तिस्तान में भी उपजाऊ भूमि बहुत थोड़ी और उसकी बढ़ती हुई जन-संख्या का बोझ सम्हालने के लिए अपर्याप्त है। तो भी वहां पर इस्लामी समाज की प्रथाएँ चालू हो गई हैं, और देश-काल के अनुसार जो प्रथाएँ अनुपयुक्त थीं, छोड़ दी गई हैं। बहु-पत्नी प्रथा के कारण स्त्रियों की स्वतंत्रता का हरण हो गया है और उन पर वही पाबन्दियां लागू हो गई हैं जो अन्यत्र इस्लामी समाज में प्रचलित हैं। परिणामतः बाल्तिस्तान की जन-संख्या बढ़ती जाती है और इस समय वहां की जन-संख्या लगभग डेढ़ लाख तक पहुँच गई है। यही कारण है कि बाल्ती अपना देश छोड़कर अन्यत्र उपनिवेश बसाकर रहने लगे हैं। यारकन्द में बाल्तियों का एक बड़ा उपनिवेश है, जहां वे तम्बाकू उगाते हैं। द्रास और सुरु और पुरिक के बाल्ती उपनिवेशों का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। जम्मू और काश्मीर में भी कुछ बाल्ती आ बसे हैं। परन्तु वे सबसे ज्यादा संख्या में मज़दूरी

की तलाश में रावलपिंडी और शिमला की तरफ़ जाते हैं। इधर से सूखी खूबानियां ले जाते हैं और उधर से अपने देश में बेचने के लिए तांबे के बरतन लेकर लौटते हैं। फिर भी बाल्तिस्तान के लिए वहां की जन-संख्या आवश्यकता से अधिक है। खेती छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटती जाती है और लोग ग़रीब होते जाते हैं।

बाल्ती शिया और नूरबख्शी सम्प्रदाय के मुसलमान हैं। उनकी भाषा लद्दाखी से मिलती-जुलती है।

बाल्तिस्तान के कुछ गांव दरद जाति के लोगों के हैं, जिन्हें बाल्ती 'ब्रोकपा' कहकर पुकारते हैं। दाशो आदि स्थानों पर दोनों जातियों में शादी-विवाह भी होने लगा है।

पोलो

पोलो बाल्तियों का राष्ट्रीय खेल है। हर गांव में पोलो-भूमि बनी हुई है। लोग इस खेल के बेहद शौकीन हैं। जिसके पास भी अपना टट्टू होता है, वह इस खेल में अवश्य भाग लेता है। दरदिस्तान में भी पोलो खेला जाता है। वास्तव में लद्दाख के लेह से लेकर उत्तर-पश्चिम में गिलगित तक यह खेल प्रचलित है। लद्दाख के बाल्ती गांव चूशोत में भी पोलो खेला जाता है और अब उच्चवर्ग के लद्दाखी भी इसमें भाग लेने लगे हैं।

पोलो बहुत प्राचीन खेल है। बारहवीं शताब्दी में कुस्तुन्तुनिया के लोग आम तौर पर पोलो खेलते थे। मुगल-साम्राज्य के दरबारी भी संभवतः इस खेल के शौक़ीन थे। बाद में भारत में इसका रिवाज मिट गया केवल बाल्तिस्तान और मनीपुर (आसाम) इन्हीं दो स्थानों पर पोलो का खेल बाकी रह गया। अंग्रेजों ने आकर मनीपुर में यह खेल सीखा और खेलना शुरू किया।

बाल्ती गेंद को 'पोलो', बल्ले को 'बेन्थो', गोल को 'हल', गोल करने को 'हल त्रंग' आदि कहते हैं।

बाल्तिस्तान के राजा काशगर के सिकन्दर के वंशज बताये जाते हैं। पहले वे काश्मीर की अधीनता स्वीकार करते थे परन्तु 'चक' लोगों के राजत्वकाल में वे स्वतंत्र हो गए थे। मुगल-काल में वे पुनः काश्मीर के आधीन रहे, परन्तु अफ़ग़ानों के समय में वे फिर से स्वतंत्र हो गये। जम्मू के महाराज गुलाबसिंह ने बाल्तिस्तान पर भी आक्रमण किया और स्कर्दू जीत लिया। उसके बाद दीवान हरीचंद ने स्कर्दू के विद्रोही राजा अहमदशाह को क़ैद कर लिया और बाल्तिस्तान जम्मू के राज्य में मिला लिया गया।

दरद एक अत्यन्त प्राचीन जाति है। 'हिरोडोटस' ने भी इस जाति का

उल्लेख किया है, यद्यपि नाम लेकर नहीं। 'टोलमी' ने 'दरदराई'; 'स्ट्रैबो प्लिनी' और नोनस ने 'दरदे' और 'डियोनीसियस पेरीगेटीज़' ने 'दरदरिओई' के नाम से इसका जिक्र किया है। संस्कृत साहित्य में इसे दारद या दरद के नाम से पुकारा गया है। यह नाम न केवल भूगोल की पुस्तकों में बल्कि महाकाव्यों और पुराणों में भी आया है। कल्हण ने भी राजतरंगिनी में दारद या दरद नाम से अनेक स्थानों पर इस जाति का उल्लेख किया है, और उसका देश वही बताया है जिसे आजकल 'शिन' लोगों का देश या 'दरदिस्तान' कहते हैं। दरदिस्तान में जो जातियां प्राचीन काल में बसती थीं उन्हें संस्कृत के लेखक 'पिशाच' कहते थे और उनकी भाषा को पैशाची।

दरद

आकृति और भाषा से दरद लोग मूलतः आर्य जाति के हैं। उनके कंधे चौड़े और मज़बूत, बाल काले या कभी-कभी भूरे भी, गौर वर्ण, नेत्र भूरे या तामड़े रंग के और स्वर कड़ा होता है। उनकी आकृति बहुत सुन्दर तो नहीं लेकिन अच्छे नाक-नक्शेवाली होती है। गिलगित और विशेषकर यासीन की स्त्रियां अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं।

दरद लोग स्वच्छन्द मन के, अत्यन्त निडर, उद्धत और जीवन के प्रति निर्मोही होते हैं। वे किसीकी दया के भूखे नहीं रहते बल्कि अपने अधिकार की मांग करना और अत्याचार के विरुद्ध लड़ना जानते हैं। ये लोग अत्यन्त परिश्रमी, पहाड़ों पर चढ़ने के अभ्यस्त और खुशदिल होते हैं।

दरद लोग बहुधा ऊनी कपड़ा ही पहनते हैं, क्योंकि गरमियों में सूती कपड़ा केवल उच्चवर्ग के लोगों को ही प्राप्य हो सकता है। पाजामा और चोगा जिसे वे कमरबन्द से बांधते हैं और गांधी टोपी की तरह की थैलानुमा टोपी जिसे पलट-पलट कर उपयुक्त आकार की बना लेते हैं, और पांवों में नीचे-ऊपर और चारों ओर पिंडलियों तक चमड़े के फीतों से बँधे जूते या चप्पलें—दरदों की यही पोशाक है।

दरदों में भी जाति-भेद है जिसके अनुसार उनकी पांच उपजातियां हैं—रोनू, शीन और यशकुन; और क्रेमिन और डूम।

रोनू वर्ग के दरद केवल गिलगित में ही मिलते हैं। इनके थोड़े-से परिवार हैं और शीन से भी ज्यादा उच्च वंश के समझे जाते हैं। संभवतः पहले यह शासन करने वाला वंश रहा होगा।

शीन वर्ग के दरद सर्वोच्च कुल के समझे जाते हैं। ये लोग अधिकतर सिंध-घाटी और उसकी सहायक घाटियों में पाये जाते हैं। दरदिस्तान के कुछ प्रदेशों में शीनों का बहुमत है, परन्तु अस्तोर या गिलगित की घाटियों में नहीं।

यशकुन वर्ग के दरदों की संख्या सबसे ज्यादा है। नगर, हुंज़, इश्कोमन, यासीन और चित्राल आदि में यशकुन अधिक बसे हैं। अस्तोर और गिलगित में उनका प्रधान पेशा खेती है। डा० लीट्नर उन्हें शीन और आदिम जाति का मिश्रण बताते हैं, परन्तु यह ग़लत मालूम पड़ता है, क्योंकि यशकुनों की आकृति शीनों जैसी ही है। वस्तुतः यशकुन और शीन ही प्राचीन आर्य थे, जो दरद जाति के थे। और उन्होंने ही आक्रमण करके इस प्रदेश को जीता होगा। कालान्तर में दरद लोग यशकुन और शीन इन दो उपजातियों में कब और कैसे विभाजित हो गए, यह अज्ञात है। शीन एक यशकुन लड़की से शादी कर सकता है, परन्तु एक यशकुन किसी शीन लड़की से विवाह नहीं कर सकता।

क्रेमिन भारत के कहार या पंजाब के झीवर वर्ग के हैं। ये लोग बर्तन बनाने, आटा पीसने और बोझ उठाने आदि का काम करते हैं। ये लोग आदिम अनार्य जातियों और आर्यों के मिश्रण से उत्पन्न लगते हैं। दरदिस्तान में क्रेमियों की संख्या थोड़ी ही है।

डूम दरदिस्तान के सबसे नीचे वर्ग के लोग हैं। ये लोग नाचने-गाने का पेशा भी करते हैं, और पंजाब के मेरासी, भारत के डोम और लद्दाख के बेम और काश्मीर के वातलों के समकक्ष वर्ग के लोग हैं। ये लोग आदिम अनार्य जातियों के वंशज हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनकी भाषा दरदी ही है, परन्तु शीन और यशकुनों से उनकी आकृति भिन्न है।

सभी दरदों के आचार-व्यवहार में एक विलक्षणता मिलती है। ये लोग गाय को हेय और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। जिस प्रकार मुसलमान सुअर को नापाक समझते हैं, उसी प्रकार दरद लोग गाय को नापाक समझते हैं। वे न गाय खाते हैं, न उसका दूध, घी, मक्खन ही उपयोग में लाते हैं, और न गोबर के कंडे ही जलाते हैं। खेत जोतने के लिए यदि उन्हें विवश होकर बैल रखने पड़ते हैं तो उनसे ज्यादा वास्ता नहीं रखते। गाय जब ब्याती है तब वे एक लकड़ी से बच्चे को गाय के थन के नीचे ढकेल देते हैं, हाथ से नहीं छूते। यह प्रथा हिन्दुओं के विपरीत तो है ही, मुसलमान भी अन्यत्र गाय को नापाक नहीं समझते। शीन विशेषकर मुर्गी को भी न खाते हैं और न छूते हैं, और न तम्बाकू या लाल मिर्चों की खेती ही करते हैं। परन्तु ये प्रथाएं अब धीरे-धीरे समाप्त हो रही हैं।

दरदिस्तान के अधिकांश निवासी इस्लाम के अनुयायी हैं। ये लोग कब मुसलमान बने और उसके पूर्व किस प्रकार की मूर्तियों की पूजा करते थे, इसका कोई विवरण नहीं मिलता। जब सिखों ने अस्तोर जीता उस समय भी दरद लोग

मुसलमान थे, यद्यपि कट्टर नहीं।' सिख सेनापति नाथूशाह स्वयं सैयद मुसलमान था और उसने दरदों को 'अच्छा' मुसलमान बनाने की चेष्टा की। नाथूशाह के आने के पूर्व अस्तोर के लोग मुसलमान होते हुए भी शव जलाते थे, दफ़नाते नहीं थे। आज भी इस प्रथा के चिन्ह बाकी हैं। शव को दफ़नाने के बाद वे लोग क़ब्र के सहारे आग जलाते हैं – गीदड़ों को दूर रखने के लिए।

दरद तीन मुस्लिम सम्प्रदायों में बंटे हुए हैं—'सुन्नी', 'शिया', और 'मुलाही'। शिया सुन्नी तो अन्यत्र भी होते हैं, परन्तु 'मुलाही' बाल्तिस्तान के 'नूरबख्शी' सम्प्रदाय के समान हैं, यद्यपि वह शियाओं के नहीं बल्कि सुन्नियों के अधिक निकट हैं। हुंजा के लोग एक दूसरे 'अली-इलाही' सम्प्रदाय के हैं। मुलाही और शिया शराब पीते हैं परन्तु सुन्नी शराब नहीं पीते।

मध्य लद्दाख के सिंध घाटी के संकुचित भाग में कुछ गांव हैं जहां बौद्ध मत के दरद भी मिलते हैं। ये लोग गिलगित की तरफ़ से ही गये हैं, परन्तु भोट होगए हैं और लामाओं को अपना आध्यात्मिक गुरू मानते हैं।

दरदी बौद्ध

अगुर्दो, सनाचा, उरदुस, दरचिक, गरकों, दाह, फिन्दूर, बलदेस, हनू आदि स्थानों पर दरदी बौद्धों की बस्तियां हैं। उनकी भाषा और आचार-व्यवहार इस बात का प्रमाण हैं कि वे गिलगित की दिशा से ही गये हैं, संभवतः ये लोग उस समय गये जब कि दरद इस्लाम के अनुयायी नहीं बने थे, और कदाचित् उस समय बाल्ती भी बौद्ध मत के ही थे। उपरोक्त गांवों में दरद भाषा ही बोली जाती है, केवल हनू के आस-पास के लोग अपनी मातृभाषा भूलकर लद्दाखी बोलने लगे हैं।

इन दरदी बौद्धों की आकृति तिब्बती बौद्धों से नहीं मिलती। उनका नाक-नकशा आर्यों जैसा है। उनकी नाक छोटी और किंचित् वक्र और चिबुक पतली होती है। परन्तु ये लोग द्रास, अस्तोर या गिलगित के दरदों के समान सुन्दर नहीं रहे। उनकी वेश-भूषा लद्दाखियों जैसी है, और वैसी ही शिखा भी रखते हैं। दरदी बौद्ध अत्यन्त गन्दे रहते हैं। उनके मुख पर गर्द की काली तहें जमी रहती हैं। उसे धोने का नाम तक नहीं लेते। उत्सव या दावतों के अवसर पर वे अपने को शुद्ध करने के लिए 'धूप' की टहनियां जलाकर कपड़ों में धुमार लेते हैं। उनकी स्त्रियां तो और भी गंदी रहती हैं।

इन लोगों में वर्ण-भेद नहीं है, संभवतः सभी शीन-वर्ग के दरद हैं, क्योंकि गाय के संबंध में उनमें भी वैसी ही प्रथा प्रचलित है। इसके अतिरिक्त इन लोगों में आज भी दरदों की पुरानी गणतंत्रात्मक परंपराओं के चिन्ह बाकी हैं। वे गांव के

मुखिया को तीन वर्ष के लिए चुनते हैं, और आवश्यकता पड़ने पर उसे बीच में ही बदल भी देते हैं। दूसरी ओर उन्होंने बहु-पति प्रथा भी अपना ली है। ये लोग अधिक धार्मिक नहीं होते। उनके लड़के लामा बनने नहीं जाते। वे शव जलाते हैं और हड्डियां पहाड़ों में रखकर पत्थर से ढंक देते हैं।

कुछ दरद अन्य आस-पड़ोस की घाटियों में जा बसे हैं जहां वे काश्मीरियों या बाल्तियों के साथ रहते हैं। रोन्दू में दरदों और बाल्तियों की लगभग बराबर संख्या है; परन्तु उनमें परस्पर विवाह-संबंध नहीं होता। बाशो में भी दरदों और बाल्तियों की संख्या बराबर है। यहां आपस में शादी-विवाह भी होने लगा है।

बाल्ती और भोट दोनों ही अपने यहां के दरदों को 'ब्रोक्पा' या 'ब्लोक्पा' कहकर पुकारते हैं। तिब्बती भाषा में ब्रोक या ब्लोक का अर्थ है 'चराई का ऊँचा स्थान'। संभवतः चूंकि पहले-पहल दरद ऊंचे दर्रों को पार करके बाल्ती देश में गये थे, इस कारण उन्हें यह नाम दिया गया। जहां कहीं दरद और बाल्ती रक्त मिश्रित हुआ है, जैसे आल्दू के पास पकोर गांव में, वहां के बाल्ती ज्यादा सुन्दर होने लगे हैं। तुरमिक घाटी में भी दरद आकृति के बाल्ती मिलते हैं।

कुछ काश्मीरी बहुत पहले गिलगित गये और वहीं शादी करके बस गये। उनकी सन्तान ने काश्मीरी भाषा छोड़ दी है और गिलगितियों और उनमें अब कोई अन्तर नहीं रहा। फिर भी दरद उनसे शादी-विवाह का संबंध नहीं रखते।

दरदिस्तान के गिलगित, से, अस्तोर, पुनिआल, और नगर आदि प्रदेशों में कभी दास प्रथा प्रचलित नहीं रही, परन्तु हुंज़ा, इश्कोमन, यासीन, चित्राल और मस्तूज़, बदख्शां के गोयेज़ाल आदि प्रदेशों में न केवल दास रखे ही जाते थे, बल्कि उनका व्यापार भी होता था। इसके अतिरिक्त दारेल, तंजीर, गोर, थलीच, चिलास, कोली और पालुस आदि दरद-गणतंत्रों में केवल युद्ध-बन्दी ही दास बनाये जाते थे, साधारणतया दास-प्रथा प्रचलित नहीं थी। आजकल इन स्थानों पर इस प्रथा में कितना अन्तर आया है, लेखक को इसका ठीक-ठीक पता नहीं चल सका है।

दरदी में 'नगर' के लोग 'खजनी', हुंज़ा के लोग 'हुंज़ीजे', इश्कोमन या चतरकुन के लोग 'इश्कोमनीजे' या 'चतरकुने', यासीन के लोग पुरे, चित्राल के लोग 'कतरे' कहलाते हैं।

जिन सात दरद गणतंत्रों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उनमें 'दारेल' डेढ़ मील चौड़ी घाटी में बसे सात क़िले-बन्द गांवों का गणतन्त्र है। यहां के लोग दारेले कहलाते हैं। तंजीर दूसरा गणतंत्र है जो बाद में यासीन के राजा के आधीन हो गया था। तीसरे गणतंत्र गोर में तीन क़िलेबन्द गांव हैं। लोग 'गूरीजे' कहलाते

हैं। चौथा गणतंत्र 'थलीच' दुनिया का सबसे छोटा गणतंत्र है। थलीच केवल सात-आठ घरों का गांव है। पाँचवां गणतंत्र 'चिलास' सबसे बड़ा है। दरद यहां के लोगों को 'भूते' पुकारते हैं। इन गणतंत्रों के अतिरिक्त सिंध नदी की घाटी में नीचे की ओर हुदर, बुनर, थक, हरबर, थर, साज़ीन, कोली और पालुस और भी स्थान हैं, जहां दरद लोग बसते हैं, और जहां किसी-न-किसी अंश में गणतंत्र की परंपराएं अभी तक बाकी हैं। कोली के आगे 'बटेर' तक दरदी भाषाएं ही बोली जाती हैं, उसके आगे पश्तो बोली जाती है और पठानों का देश शुरू होता है।

फ्रेडरिक ड्रू ने इन दरद गणतंत्रों के संबंध में लिखा है कि उनकी जन-सभा जिसे दरद 'सिगास' पुकारते हैं एक प्रकार से सभी मामलों का फैसला करती है। ढोल बजाकर जन-सभा बुलाई जाती है, वृद्ध और नौजवान, अर्थात् सभी बालिग़ पुरुष इसमें सम्मिलित होते हैं। परन्तु स्त्रियां उसमें भाग नहीं ले सकतीं। जिन्हें जन-सभा में सम्मिलित होने का अधिकार है, उनमें से कोई भी अनुपस्थित होने का अधिकार नहीं रखता। अनुपस्थित व्यक्ति पर जुर्माना किया जाता है। साथ ही यह महासभा अल्प-मत के लोगों के अधिकारों की पूरी तरह रक्षा करती है। यदि एक व्यक्ति भी किसी नीति या फैसले से अपना विरोध प्रकट करता है तो वह नीति या फैसला कार्यान्वित नहीं किया जाता; जन-सभा की बैठक कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दी जाती है और इस बीच में विरोधकर्त्ता को समझाने की कोशिश की जाती है और यदि इसमें सफलता नहीं मिलती तो प्रस्ताव में ही संशोधन करके उसे दूसरी बैठक में पेश किया जाता है। इससे भी यदि किसीको विरोध होता है तो पुनः जन-सभा की बैठक स्थगित कर दी जाती है। इस प्रकार कुछ दिनों में कोई-न-कोई सर्वसम्मत हल निकल आता है।

इस जन-सभा की कार्य-कारिणी समिति पाँच-छः व्यक्तियों की होती है, जो जन-सभा की बैठक में सबकी राय से चुने जाते हैं। दरद भाषा में कार्य-कारिणी के इन सदस्यों को 'जोश्तरो' कहते हैं। जोश्तरो का पद पैतृक नहीं है, और प्रत्येक जोश्तरो को जन-सभा की नीति से सहमत होना चाहिए, नहीं तो उसे पदच्युत कर दिया जाता है। सारे जोश्तरो मिलकर नीति पर विचार करते हैं, परन्तु जन-सभा की स्वीकृति के बिना कोई नई नीति नहीं चला सकते। जोश्तरो ही जन-सभा की बैठक बुलाते हैं और पानी, लकड़ी आदि के संबंध में जो झगड़े उठते हैं, उनका फैसला करते हैं।

दारेल जैसी बड़ी घाटी में तो हर गांव की अपनी अलग जन-सभा (सिगास) होती है जो अपने गांव के स्थानीय मामलों का फैसला करती है,

परन्तु अधिक महत्व के प्रश्नों और नीतियों का फैसला करने के लिए सबसे पहले सारे गांवों के जोश्तरो एकत्र होते हैं, और वे एक साथ बैठकर प्रस्तावों की योजना बनाते हैं; और फिर सारे गांवों के लोगों की महासभा जुड़ती है और उन प्रस्तावों को सुनकर फैसला करती है। अगर सारे गांव एक नीति पर एकमत नहीं हो पाते तो हर गांव को अपने-अपने निर्णय के अनुसार कार्य करने की निर्वाध स्वतंत्रता होती है।

इन गणतंत्रों का विधान चाहे जितना सरल और प्रारंभिक अवस्था का-सा क्यों न लगे, राजाओं द्वारा शासित अन्य दरद प्रदेशों की अपेक्षा इन गणतंत्रों ने दूसरों की भूमि हड़पने के लिए शायद ही कभी युद्ध किये हैं। इसी कारण रक्तपात और नर-संहार में वहां के लोग बहुत कम भाग लेते रहे हैं। साथ ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता और कार्य की स्वतंत्रता वहां इतनी रही है कि हिंसात्मक व्यवहार की रोक-थाम करने की लोग आवश्यकता ही नहीं समझते।

मुग़लों के समय में गिलगित तक दरदिस्तान के इलाके मुग़लों की आधीनता स्वीकार करते थे। परन्तु अफगानों के समय में वे फिर स्वतंत्र हो गए; और विभिन्न प्रदेशों के राजा एक-दूसरे का राज्य छीनने में व्यस्त हो गए। बीस-तीस वर्ष की अवधि में गिलगित पर पुनिआल, नगर, यासीन आदि प्रदेशों के राजाओं के पाँच वंशों ने राज्य किया। जब सन् १८४२ में सिकन्दर खां के भाई करीमखां ने सिखों के सूबेदार गुलाम मुहीउद्दीन से गौहर अमान के विरुद्ध सहायता मांगी, और उसने नाथूशाह और मथुरादास के सेनापतित्व में गिलगित को फौज भेजी, उस समय से गिलगित एक प्रकार से काश्मीर का अंग बन गया। परन्तु गौहर अमान फिर भी अपने षड्यंत्र रचता रहा और सिख-शासन समाप्त होने पर (१८४५) उसने १८५६ ई० में तमाम दरद लोगों की सहायता से डोगरों को दरदिस्तान से बाहर निकाल दिया। इस पर डोगरा महाराजा रनबीर सिंह ने जनरल देवीसिंह के साथ एक बड़ी फौज भेजी और उसने यासीन तक दरदिस्तान पर कब्ज़ा कर लिया। सन् १८५९ ई० में वहाँ पुनः एक विद्रोह हुआ जिसका दमन होने के बाद गिलगित का पूरा इलाक़ा स्थायी रूप से जम्मू के राजा के आधीन हो गया। सन् १८५१ और १८६६ ई० में क्रमशः चिलास और दलेल भी महाराजा की सेना ने हस्तगत कर लिये। और सन् १८६१ में हुंजा और नगर के प्रदेश भी ब्रिटिश फौजों की मदद से जम्मू के राज्य में मिला लिये गए।

ज़ार-शाही रूस और बाद में सोवियत् रूस के विरुद्ध गिलगित को फौजी अड्डा बनाने की ज़रूरत भारत के ब्रिटिश शासक अफ़गान-युद्धों के समय से ही महत्

में अर्थात् खेतीबारी, दस्तकारी या उद्योग-धन्धे में किसान या मजदूर की हैसियत से भाग नहीं लेते जिसके कारण वे केवल एक उपजीवी वर्ग बनकर रह गए हैं। देश के आर्थिक जीवन में उनका यह भाग उनके लिए अनेक समस्याएँ खड़ी कर देता है, और किसी भी राष्ट्रीय निर्माण के प्रोग्राम में उनकी उपयोगिता को अनावश्यक बना देता है। उनके इस उपजीवी जीवन ने उनमें एक ऐसा दृष्टिकोण और मनोवृत्ति पैदा कर दी है, जो उनकी समस्याओं को सबसे अलग कर देती है। इस प्रश्न पर हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहां केवल इतना ही कहना जरूरी है कि काश्मीरी पंडितों के स्वभाव और चरित्र के बारे में लोगों में जो दुर्भावना बन गई है उसको उत्पन्न करने में उनकी पुराण-पंथी प्रथायें और देश के आर्थिक-जीवन में उनकी अनुत्पादक भूमिका ही सबसे अधिक जिम्मेदार हैं।

श्रीनगर के मुसलमानों में काफी बड़ी संख्या शाल और रेशम बुनने वालों की है। ये लोग छोटे-छोटे कारखानों में काम करते हैं। रेशम का एक बड़ा सरकारी कारखाना भी है। परन्तु ऊनी मिल सरकारी नहीं है। इन उद्योगों के अतिरिक्त अनेक अलंकारिक कलाएं और दस्तकारियां हैं, जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन अन्यत्र किया जायगा। इन दस्तकारियों में लगे काश्मीरी अपूर्व सौन्दर्य की चीजें पैदा करते हैं।

हाँजी या मल्लाह, काश्मीर में जिनकी संख्या लगभग तीस हजार है, नावों में ही घर बनाकर रहते हैं। इन नावों को 'डोंगा' कहते हैं। चूँकि देश के आन्तरिक व्यापार की दृष्टि से काश्मीर में प्रारंभ से ही जल-मार्गों का विशेष महत्व रहा है, और आधुनिक काल में अन्य देशों से आये यात्रियों के ठहरने आदि की सुविधाएँ भी अधिकतर नावों पर बने घरों में ही संभव रही हैं, इस कारण काश्मीर में विभिन्न उपयोगों के लिए विभिन्न प्रकार की नावें बनती आई हैं। उदाहरण के लिए लकड़ी, गल्ला, पत्थर आदि चीजें ढोने वाली नाव विशाल आकार की होती है। उसे 'बहत्स' कहते हैं। व्यापारियों का माल ढोने के लिए या यात्रियों को दूर तक ले जाने के लिए एक कमरानुमा नाव होती है जिसमें बावर्चीखाना आदि भी रहता है। इसे 'डुंगा' पुकारते हैं। यात्रियों के ग्रीष्म निवास के लिए जो नावें होती हैं उनमें एक आधुनिक घर की पूरी सुविधाएं होती हैं—बिजली, सजी-सजाई बैठक, रेडियो, खाने-सोने आदि के कमरे और स्नान-गृह आदि। इन्हें 'हाउस-बोट' कहते हैं और ये श्रीनगर में झेलम नदी के दोनों तटों पर या डल झील के अन्दर सैकड़ों की संख्या में अपने-अपने नियत स्थानों पर लगी रहती हैं। एक दम्पति, प्रेमी-प्रेमिका या मित्रों को सैर-सपाटे के लिए ले जाने वाली छोटी और हल्की नाव जिसमें स्प्रिंगदार

रंगीन गद्दे, तकिये और परदे पड़े रहते हैं, 'शिकारा' कहलाती है। इनके अतिरिक्त 'परिन्दा', 'शिकारी' और 'बन्दूकी शिकारी' आदि नामों की अन्य प्रकार की नावें भी होती हैं, जो शासक-वर्ग के सैर-सपाटे या शिकार आदि के उपयोग में आती हैं। वहत्स और डुंगा को हाँजी बड़े-बड़े बाँसों के जरिये खेते हैं, जिन्हें काश्मीरी में 'हमतुल' कहते हैं। छोटी और हल्की नावें पान की शकल के 'चप्पू' से खेयी जाती हैं।

काश्मीरी अशिक्षा, गरीबी और पिछड़ेपन के बावजूद एक अत्यन्त प्रतिभाशाली जाति है। काश्मीरियों की प्राचीन संस्कृति, उन्नत साहित्य, संगीत, लोक-परम्परा और उनके खान-पान और रहन-सहन का ढंग आदि उन्हें काश्मीर-राज्य में बसने वाली अन्य जातियों की तुलना में बहुत ऊँचे धरातल पर रख देता है। काश्मीरियों का जीवन तीव्रता से आधुनिक होता जा रहा है। उनकी राजनीतिक चेतना भारत के अन्य प्रान्तों के निवासियों से कम नहीं है।

काश्मीर राज्य की विभिन्न जातियों की जीवन-परिस्थितियों पर एक संक्षिप्त, विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि उनके विकास के सांस्कृतिक धरातल में न केवल अत्यधिक विभिन्नता है, वरन् अत्यधिक वैषम्य भी है। इसका कारण, जैसा कि हम प्रारंभ में कह चुके हैं, यह है कि काश्मीर-राज्य अब तक जातियों का एक कारागार बना हुआ था। किसी भी जाति को अपने साहित्य, संस्कृति और जातीय जीवन को पूर्ण रूप से विकसित करने की सुविधाएँ प्रदान नहीं की गई थीं। 'नया काश्मीर' की योजना में प्रथम बार जातियों के प्रश्न को एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा गया है, और उसमें प्रत्येक जाति के जातीय-जीवन, संस्कृति, और प्रतिभा के सम्पूर्ण विकास की कल्पना की गई है। अतः जब तक 'नया काश्मीर' की योजना के अनुसार काश्मीर की समस्त जातियों को अपनी उन्नति का पूरा अवसर नहीं दिया जाता, काश्मीर-राज्य, उस समय तक, जातियों का कारागार ही बना रहेगा—अनुन्नत, अशिक्षित, पुराण-पंथी, अनाधुनिक जातियों का समूह।

चार

भाषाएँ और बोलियाँ

जम्मू-काश्मीर राज्य में यदि अनेक जातियाँ बसती हैं, तो स्वाभाविक है कि वहाँ उतनी ही या उनसे भी अधिक भाषाएं और बोलियां भी बोली जाती हैं। एक प्रकार से जातियों और भाषाओं की विभिन्नता के कारण जो समस्याएँ इस समय भारत जैसे विशाल देश को आन्दोलित कर रही हैं, एक लघु सीमा तक वे समस्याएँ काश्मीर-राज्य के सम्मुख भी हैं। भारत में इस समय बँटवारे के पश्चात् के भयानक रक्त-पात और न्यस्त स्वार्थों द्वारा दिये गए 'एक राष्ट्र, एक जाति, एक भाषा और एक नेता' जैसे प्रतिक्रियावादी नारों के कारण एक ऐसी संकीर्ण, अबुद्धिवादी और असहिष्णु मनोवृत्ति पैदा हो गई है कि विभिन्न जातियों और भाषाओं की प्रतिभा के पूर्ण विकास के लिए यदि कोई न्यायपूर्ण माँग पेश करता है तो उसे देशद्रोही और न जाने क्या-क्या कहकर चुप करा दिया जाता है। ठीक इसके विपरीत काश्मीर के नेताओं ने 'नया काश्मीर' की योजना बनाते समय इस जटिल प्रश्न का समाधान पार्टी-स्वार्थों या व्यक्तिगत रुचियों और इच्छाओं के आधार पर करने की चेष्टा नहीं की, वरन् उन्होंने उन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का आधार लिया जो अन्य प्रजातांत्रिक देशों में इस दिशा में अपनी प्रामाणिकता सिद्ध कर चुके हैं। अर्थात् उन्होंने स्वीकार किया कि काश्मीर-राज्य में अनेक जातियां बसती हैं और उनकी भाषाएं एक-दूसरे से भिन्न हैं। इसलिए राज्य की एकता कायम रखने के लिए यह न्यायपूर्ण न होगा कि केवल एक भाषा ही सब पर लादी जाय—इससे विभिन्न जातियों की स्वाभाविक प्रतिभा कुंठित हो जायगी और उनके स्वतंत्र सांस्कृतिक जीवन का विकास रुक जायगा। 'नया काश्मीर' की योजना प्रगतिवादी प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के आधार पर बनाई गई है, इसलिए उसमें इस प्रकार के जातीय-शोषण का स्थान नहीं हो सकता।

काश्मीर में आज तक शासक-वर्ग सदैव विदेशी भाषाओं को ही सम्मान और प्रोत्साहन देता आया है, उसने यहां की स्थानीय मातृ-भाषाओं को कभी पनपने का अवसर नहीं दिया। उदाहरण के लिए हिन्दू-काल में संस्कृत राजभाषा थी, यद्यपि यहां की जनता की भाषा संस्कृत नहीं थी। मुग़लों के शासन में फ़ारसी राजभाषा बनी और पठानों, सिखों और डोगरों के राज्य में भी वह इसी पद पर आसीन रही। केवल कुछ वर्ष पूर्व ही (१८७२ ई० में) फ़ारसी का स्थान उर्दू ने लिया, परन्तु काश्मीर राज्य की सभी जातियों के लिए उर्दू भी एक विदेशी भाषा है। ये विदेशी राजभाषाएं यदि केवल राजकीय कार्य चलाने के लिए रही होतीं, और राज्य की ओर से विभिन्न जातियों की मातृ-भाषाओं को अपने विकास की पूर्ण सुविधाएं दी जातीं, अर्थात् शिक्षा का आयोजन मातृ-भाषाओं में ही किया गया होता, तो संभव है काश्मीर-राज्य की जनता आज इतनी पिछड़ी और अशिक्षित न होती और न यहां की विभिन्न भाषाएं ही इतनी अनुन्नत होतीं कि आज उनमें से अधिकांश के पास न कोई लिखित साहित्य है, और न अपनी लिपि ही। परन्तु ऐसा नहीं हुआ; जनता को दमन की चक्की में पीसकर रखने वाले सामन्ती शासक विभिन्न जातियों के साहित्य और संस्कृति का विकास करना अपना कर्तव्य नहीं समझ सकते थे। और आज भी यदि 'एक राष्ट्र और एक भाषा' का नारा सफल हो जाय तो मनुष्य की विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के विकास के सारे द्वार बन्द हो जायंगे और जनता पहले की तरह अशिक्षा और अज्ञान के अंधकार में डूबी पड़ी रहेगी। ऐसी स्थिति में विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के अध्ययन का प्रश्न भी निरर्थक और अनावश्यक हो जायगा, क्योंकि उस समय तो केवल विभिन्न राष्ट्रों के नाम से ही विभिन्न संस्कृतियों का बोध करना प्रामाणिक समझा जायगा, जातियों और भाषाओं के नाम से नहीं। परन्तु चूंकि 'नया काश्मीर' की योजना इस अनैतिहासिक और संस्कृति-विरोधी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करती, हम काश्मीर-राज्य की विभिन्न भाषाओं और बोलियों का परिचय प्राप्त करेंगे और उन समस्याओं पर भी विचार करेंगे जो उनके सर्वांगीण विकास को दृष्टि में रखकर उत्पन्न होती हैं। संभव है कि काश्मीर उन समस्याओं को हल करके समूचे भारत का इस दिशा में मार्ग-प्रदर्शन कर सके और उसे उस असांस्कृतिक, प्रतिक्रियावादी पथ पर जाने से रोक सके जिस पर भारत के शोषक-वर्ग आज उसे ढकेलना चाहते हैं।

काश्मीर-राज्य में लगभग १३ भाषाएं और बोलियां बोली जाती हैं। बोलियों के और भी विभाजन किये जा सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक घाटी में बोली

भाषाएँ और बोलियाँ

कुछ-न कुछ बदल जाती है। आर्य और तुरियानी कुल की इन १३ भाषाओं और बोलियों में पाँच भाषाएं हैं और बाक़ी उनकी बोलियां हैं। ये पाँच भाषाएं डोगरी, पहाड़ी, काश्मीरी, दरदी और लद्दाखी हैं। इनको भाषा-चित्र पर अपनी बोलियों के साथ विभिन्न रंगों में इस प्रकार अंकित कर सकते हैं —

१. डोगरी	डोगरी	आर्यभाषाएँ
	चिबाली	,,
२. पहाड़ी	रामबनी	
	भद्रवाही	
	पाडरी	,,
	डोडा की बोली	
३. काश्मीरी	काश्मीरी	,,
	किश्तवाड़ी	
४. दरदी	दाह, अस्तोर,	
	गुरेज़, द्रास	,,
	गिलगित आदि	
	की बोलियां	
५. लद्दाखी (तिब्बती)	बाल्तिस्तानी	तुरियानी भाषाए
	लद्दाखी,	
	चाम्पा लोगों की बोली	

फ्रेडरिक ड्रू ने काश्मीरी और डोगरी भाषाओं के निकटवर्ती प्रदेशों की भाषाओं और बोलियों के परस्पर संबंध को एक डायग्राम (चित्रांकन) द्वारा अंकित किया है जिससे यह जानने में सुविधा होती है कि दरदी और लद्दाखी भाषाओं को छोड़कर राज्य की अन्य भाषाएं और बोलियां एक-दूसरे से और हिन्दुस्तानी (हिन्दी-उर्दू) अथवा पंजाबी से कितनी निकट या दूर हैं।

डोगरी, जैसा कि उनके चित्रांकन से प्रत्यक्ष है, हिन्दी (हिन्दुस्तानी) से बहुत भिन्न प्रकार की भाषा है, परन्तु पंजाबी और डोगरी अपेक्षाकृत अधिक निकट हैं और भाषा-शास्त्रियों ने पंजाबी की सच्ची विभाषा डोगरी को ही माना है। वस्तुतः डोगरी और पंजाबी में अनेक समानताएं हैं। हिन्दी का 'आकार' इन दोनों भाषाओं में 'अकार'

डोगरी

हो जाता है—जैसे, हाथ या काम का हथ और कम। हिन्दी में जहां व बोलते हैं, वहां डोगरी-पंजाबी में 'ब' हो जाता है—जैसे बीस का बी (स)।

बाह्य पर्वतों के प्रदेश में रावी से लेकर चिनाव के पश्चिम तक के गांवों में डोगरी बोली जाती है।

डोगरी में थोड़ा-सा साहित्य भी है, विशेषकर उसमें सुन्दर ग्राम-गीत पाये जाते हैं। आजकल जम्मू के अनेक कवि डोगरी में काव्य-रचना करने लगे हैं, जिनमें दीनू पंत प्रमुख हैं। कतिपय लेखक डोगरी में कहानियां भी लिखने लगे हैं, परन्तु अभी तक इस भाषा का गद्य-साहित्य अपने प्रारंभिक विकास की दशा में ही है। डोगरी की प्राचीन लिपि तक्करी अथवा टकरी है।

चिबाली

चिबाली डोगरी से उतनी ही भिन्न है जितनी डोगरी पंजाबी से भिन्न है। वस्तुतः चिबाली पश्चिमी पंजाबी, जिसे हिन्दकी या लहंदा पुकारते हैं, की विभाषा पोठवारी से अधिक मिलती-जुलती है। पोठवारी झेलम के पश्चिम-प्रदेश पोठवार में बोली जाती है।

चिबाली या पश्चिमी पंजाबी और डोगरी या पंजाबी भाषाओं में सबसे बड़ा भेद यह है कि उनमें (चिबाली और लहंदा में) षष्ठी विभक्ति के रूप में 'दा' 'दे' 'दी' के स्थान पर 'ना' 'ने' 'नी' का प्रयोग होता है और वर्तमान कृदन्त का अन्त सर्वदा 'ना' से होता है जबकि हिन्दी में 'ता' और डोगरी और पंजाबी में 'न्डा' से होता है। इसके अतिरिक्त चिबाली में अकार का उकार बन जाने की भी प्रवृत्ति है; जैसे डोगरी भाषा के शब्द लकड़ी, छम (प्रपात) और चलना आदि चिबाली में लुकड़ी, छुम, जुलना आदि रूप में प्रयुक्त होते हैं।

पहाड़ी भाषाएँ

रामबनी, पॉगुली (पाडरी), भद्रवाही, सिराजी (डोडा) और किश्तवाड़ी आदि पहाड़ी बोलियाँ हैं। उत्तरी और उत्तर-पूर्वीय भारत के विशाल हिमाचल प्रदेश में अनेक पहाड़ी बोलियाँ बोली जाती हैं। उनमें नेपाल की पूर्वी-पहाड़ी जिसे नेपाली, परवतिया या खसकुरा कहकर पुकारते हैं, कुमाऊँ और गढ़वाल प्रदेशों की कुमाउनी और गढ़वाली और संयुक्त-प्रान्त के जौनसार-बावर से लेकर पंजाब प्रान्त की सिरमौर रियासत, शिमला पहाड़ी, कुलू, मंडी, चंबा होते हुए पश्चिम में काश्मीर के भद्रवाह प्रदेश तक पश्चिमी पहाड़ी की विभिन्न बोलियों का क्षेत्र फैला हुआ है। नेपाली, कुमाउनी और गढ़वाली आदि तो नागरी लिपि में लिखी जाती हैं और उनमें थोड़ा-बहुत लिखित साहित्य भी मिलता है। परन्तु पश्चिमी-पहाड़ी की बोलियों में जो तक्करी या टकरी लिपि में लिखी जाती हैं, लिखित साहित्य नाममात्र को ही मिलता है।

काश्मीर राज्य के अन्तर्गत जो पहाड़ी बोलियाँ बोली जाती हैं; वे एक दीर्घकालीन संबंध के कारण काश्मीरी के अत्यधिक निकट आ गई हैं। केवल 'रामवनी' ही ऐसी बोली है जो डोगरी और काश्मीरी के बीच की भाषा है और दोनों से समान रूप से प्रभावित है। अन्यथा पाँगुली, भद्रवाही, सिराजी और किश्तवाड़ी आदि बोलियाँ डोगरी की अपेक्षा काश्मीरी के अधिक निकट हैं।

दरदिस्तान की भाषाओं के संबंध में किंचित विस्तार से लिखना अपेक्षित है, क्योंकि स्वयं काश्मीरी दरद-समूह की भाषा है। आज जिसे दरदिस्तान कहते हैं, उसमें ऐसे प्रदेश भी हैं जहाँ दरद जाति के लोग नहीं बसते। परन्तु यह नाम उपयोगी है क्योंकि इस प्रदेश में जितनी आर्य-भाषाएँ बोली जाती हैं वे सब इसी वर्ग की भाषाएं हैं।

दरद भाषाएँ

दरदिस्तान में जो जातियाँ प्राचीन काल में बसती थीं उन्हें संस्कृत के लेखकों ने 'पिशाच' जातियों के नाम से सूचित किया है। वर्तमान काल में भी दरदी की बोलियों पर पैशाची का गहरा प्रभाव लक्षित है, जिससे उन्हें 'पिशाच' भाषाएं कहना भी उपयुक्त है। एक प्रकार से दरदी भाषा के स्थान पर पैशाची भाषा कहना ही अधिक समीचीन होता। परन्तु भारतीय पुराणों में पिशाच का अर्थ नरभक्षी होता था, इसलिए कुछ लोगों को इस नाम से विरोध है कि कहीं सुनने वाले यह अनुमान न करने लगें कि पैशाची के बोलने वाले नरभक्षी हैं, अथवा उनके पूर्वज नरभक्षी थे। अतः इस भ्रम का निराकरण करने के लिए दारद या दरद शब्द का प्रयोग ही उचित होगा।

दरद-भाषाएँ, जो आर्य-भाषाओं के ही कुल की हैं, अधिकतर काश्मीर राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा के प्रदेशों में और उसके बाहर भी बोली जाती हैं। ग्रियर्सन के अनुसार इस शाखा के अन्तर्गत निम्न भाषाएं और बोलियाँ हैं —

(क) काफिर-वर्ग

(१) बशगली
(२) वइ-अला
(३) वस्य-वेरि या वेरों
(४) अश्कुन्द
(५) कलाशा-पशइ, (जिसकी निम्न विभाषाएं हैं— कलाशा, गवरबती या नरसाती, पशइ—लघमानी या देहगानी, दीरी और तीराही।)

(ख) खो-वारी वर्ग

(१) चित्राली या अर्नीया

(ग) दरद-वर्ग

(१) शीना

(२) काश्मीरी

(३) कोहिस्तानी

काफ़िर-वर्ग की पहली चार भाषाएं काफ़िरिस्तान में बोली जाती हैं। बाकी दूसरी भाषाओं पर उनके अपने क्षेत्रों के निकटवर्ती प्रदेशों की पूर्वी फ़ारसी भाषाओं—पश्तो, खो-वार और कोहिस्तानी भाषाओं का प्रभाव लक्षित है।

खो-वार चित्राल देश और उसके आस-पड़ोस की भाषा है। वैसे खो-वार वस्तुतः दरद भाषा है, परन्तु विकास-क्रम की विशेषता के कारण स्वतंत्र प्रकृति प्राप्त कर गई है, और काफ़िर-वर्ग की भाषाओं के अधिक निकट हो गई है। ऊँचे पर्वतों ने बीच में पड़कर उसे दरद भाषाओं से विलग कर दिया है और उत्तरी हिन्दूकुश की फ़ारसी-वर्ग की गल्चा बोली के अत्यन्त निकट ला दिया है।

दरद-वर्ग की भाषाएं दरदिस्तान में बोली जाती हैं। अर्थात् गिलगित, गुरेज़, चिलास और सिंध और स्वात कोहिस्तान में। हुँज-नगर (गिलगित का उत्तरी प्रदेश), चित्राल (गिलगित से पश्चिम का प्रदेश) आदि दरदिस्तान में सम्मिलित नहीं हैं। काश्मीरी को छोड़कर दरद भाषाएँ केवल इसी भूभाग में सीमित हैं।

दरद-भाषाओं का सबसे प्रामाणिक रूप शीना है, और उसका सबसे शुद्ध रूप गिलगित में ही मिलता है। अस्तोर, गुरेज़, चिलास, ड्रोक्पा (द्रास) और

शीना

दाह-हनू आदि स्थानों पर दरदी की स्थानीय बोलियाँ बोली जाती हैं। दाह-हनू की बोली में तिब्बती भाषा का भी पर्याप्त मिश्रण हो गया है क्योंकि यह स्थान बाल्तिस्तान के पूर्वीय छोर पर एक एकान्त दरद उपनिवेश है।

कोहिस्तानी सिंध और स्वात कोहिस्तान की शीन-जाति की मूल-भाषा है, परन्तु आजकल तीव्रता से पश्तो उसे पदच्युत कर अपना आसन जमाती

कोहिस्तानी

जा रही है। स्वात में अब इधर-उधर बिखरे क़बीले ही कोहिस्तानी बोलते हैं। वहाँ कोहिस्तानी की अनेक बोलियाँ भी हो गई हैं जैसे गार्वी, मैया, तोरवाली और चिलीस आदि। ये बोलियाँ शीना से निकट संबंध रखती हैं, यद्यपि पश्तो और भारतीय रूपों से इतना मिश्रित हो गई हैं कि उनका शुद्ध रूप मिलना दुर्लभ हो गया है।

काश्मीरी

काश्मीर की समूची घाटी में काश्मीरी ही बोली जाती है। इस भाषा की केवल एक ही सच्ची विभाषा या बोली है—किश्तवाड़ी, जो दक्षिण-पश्चिम की किश्तवाड़ घाटी में बोली जाती है। पीर पंचाल के पार जम्मू प्रान्त में चिनाब की घाटी तक और भी कई मिश्र बोलियाँ हैं जैसे पॉगुली, सिराजी, रामवनी आदि। इनमें से पहली दो में काश्मीरी का मिश्रण पश्चिमी पहाड़ी में हुआ है और तीसरी में काश्मीरी का मिश्रण डोगरी में हुआ है। आगे पूरब की दिशा में काश्मीरी का मिश्रण रियासी ज़िले में लहंदा से प्रभावित चिबाली की अनेक स्थानीय बोलियों में भी हुआ है।

काश्मीर की घाटी में काश्मीरी का सर्वत्र एक-सा ही रूप है, अतः साधारण भेद के कारण स्थानीय बोलियों की दृष्टि से उसका विभाजन करना असंगत होगा।

भाषागत संबंध

काश्मीरी दरद-वर्ग की भाषा है, और शीना से उसका निकटतम संबंध है। परन्तु कई सहस्र वर्षों से काश्मीरी भाषा पर भारतीय प्रभाव पड़ते रहे हैं जिससे उसके शब्द-भंडार में भारतीय शब्दों की बहुतायत मिलती है। संभवतः इसी आधार पर अनेक लेखकों ने काश्मीरी को संस्कृत-व्युत्पत्ति की भाषा लिखा है। परन्तु ग्रियर्सन का मत है कि यह प्रमाणसिद्ध नहीं है। उनके अनुसार काश्मीरी अत्यन्त प्राचीन भाषा है। कल्हण ने अपनी पुस्तक राजतरंगिणी में केवल तीन काश्मीरी शब्द उद्धृत किये हैं, और वे शब्द आज भी बहुत कुछ उसी रूप में प्रयोग में आते हैं।

सर्वप्रथम १९११ ई० की काश्मीर की जन-संख्या रिपोर्ट में काश्मीरी का संस्कृत भाषाओं के साथ नहीं वरन् शीना-खोवार भाषाओं के साथ वर्गीकरण किया गया। इस पर शोर मचा कि यह संस्कृत-समूह की भाषा है, क्योंकि इस्लाम का प्रभाव फैलने के पूर्व काश्मीर में केवल ब्राह्मण ही रहते थे, शास्त्र, पुराण और देवमाला उनकी संस्कृत की है; अतः यह वर्गीकरण ग़लत है।

इस प्रश्न पर ग्रियर्सन तथा कई अन्य विद्वानों ने भावना को प्रधानता न देकर वैज्ञानिक ढंग से सोचा। हिन्दी-पाठकों को भी इस विवाद-ग्रस्त प्रश्न के समाधान से परिचित होना चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन काल से ही काश्मीरी पंडित संस्कृत-साहित्य की अपूर्व सेवा करते आये हैं। पिछले दो हज़ार वर्षों में उन्होंने इतिहास, काव्य, प्रेम-कथाओं और दर्शन के महान् ग्रन्थों की रचना की है। इस दीर्घ काल में काश्मीर पर भारतीय संस्कृति का प्रभुत्व रहा है। काश्मीर घाटी की उत्तर

और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बसने वाली पिशाच या दरद जातियाँ इस बीच में निरंतर उनकी विद्रोही बनी रहीं— संभवतः इस विद्रोह का मूल कारण यह भी था कि वे भारतीय आर्यों के प्रभुत्व को वांछित नहीं समझती थीं। परन्तु ये जातियाँ स्वयं अत्यन्त पिछड़ी और हब्सी अवस्था में थीं जिसके कारण उनकी संस्कृति, साहित्य और इतिहास की परंपराएं भी नहीं बनीं।

परन्तु फिर भी स्वयं काश्मीरी इस तथ्य से इन्कार नहीं करते कि पहले काश्मीर में पिशाच जातियाँ बसती थीं और बाद में ही भारत से आये आर्यों ने उन्हें विजित किया। इस तथ्य का सबसे बड़ा और अकाट्य प्रमाण स्वयं काश्मीरी भाषा है। यह एक साधारण और अनुभव-सिद्ध बात है कि विदेशी भाषा और संस्कृति का प्रभाव विजित प्रदेश की मातृभाषा पर अवश्य पड़ता है। काश्मीरी पर यह प्रभाव अत्यन्त गहरा पड़ा है जिससे उसमें संस्कृत भाषा के अनेक मुहावरे और रूप घुल-मिल गए हैं। परन्तु फिर भी यहाँ की भाषा का ढाँचा प्राचीन पिशाच निवासियों की बोली का आधार लेकर ही टिका हुआ है—कहीं से भी टस-से-मस नहीं हुआ। बस इसी आधार को दृष्टि में रखकर भाषा-वैज्ञानिक परिपाटी के अनुसार इस भाषा का वर्गीकरण दरद-समूह की भाषाओं में करना अनिवार्य हो गया। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि यहाँ के ब्राह्मण पिशाचों के वंशज हैं। वस्तुतः सत्य इसके विपरीत है। परंपरा, नृवंश-शास्त्र और भाषा-संबंध-शास्त्र इस बात को एक स्वर से प्रमाणित करते हैं कि काश्मीरी पंडित प्राचीन भारतीय प्रवासियों के प्रतिनिधि हैं।

पिशाच

पिशाच भारतीय साहित्य के प्राचीन वर्णनों के अनुसार दानव होते थे, भयंकर, डरावनी आकृति के और हिंस्र स्वभाव के। कुछ संस्कृत लेखकों ने उन्हें भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर और कुछ ने उन्हें विन्ध्याचल-पर्वत के मध्य में निवास करते हुए बताया है। उनकी एक भाषा पिशाची या पैशाची का भी उल्लेख किया गया है। इस भाषा की एक बोली चूलिका-पैशाचिका का ज़िक्र भी हुआ है, परन्तु संस्कृत के वैयाकरणों ने इस भाषा का अत्यन्त संक्षिप्त और अपूर्ण वर्णन ही किया है। उन्होंने पैशाची को भी संस्कृत की एक प्राकृत ही बताया है।

परन्तु वास्तव में पैशाची संस्कृत की प्राकृत नहीं है। वह एक अत्यन्त प्राचीन भाषा है और उस प्राकृत भाषा की जो कालान्तर में परिमार्जित होकर साहित्यिक संस्कृत बन गई, बेटी नहीं है, बल्कि बहन है।

संस्कृत की तुलना में चूलिका-पैशाचिका की विशेषता यह है कि इसमें

कोमल अक्षर-ध्वनियाँ कठोर हो जाती हैं—यथा दामोदर का तामोदर और बालक का पालक बन जाता है।

प्रो० पिश्चल और ग्रियर्सन की खोजों के अनुसार हिन्दूकुश और वर्तमान भारतीय सीमान्त के बीच का प्रदेश ही पैशाची भाषाओं का प्रदेश है। खोवारी, दरदी और कोहिस्तानी उनकी मुख्य भाषाएं हैं। इस प्रदेश में प्रारंभ में कुछ ऐसी जंगली जातियाँ बसती थीं जिनका आर्यों से बहुत दूर का ही रिश्ता था। आर्यों की विजय-यात्रा से उनका कोई संबंध नहीं था। ये पिशाच जातियाँ भारत के सीमान्त प्रदेशों तक ही सीमित नहीं रहीं। उन्होंने जाकर सिंध के निचले भाग में उपनिवेश बसाये। संस्कृत-लेखकों ने कैकेय देश में पिशाचों का उल्लेख किया है, अर्थात् पश्चिमी पंजाब या ब्राचडा (सिंध) में। लहंदा और सिंधी भाषाओं पर पैशाची का प्रभाव आज भी लक्षित है। पिशाच इसके आगे भील-देश और संभवत: वर्तमान गोआ तक फैल गए थे, क्योंकि मराठी की बोली कोंकणी पर भी पैशाची का गहरा प्रभाव है।

ये पिशाच या दरद कौन थे, कहाँ से आये और उनकी भाषा किस परिवार की है, आदि प्रश्नों पर विद्वानों में पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध से ही विवाद चलता आया है। डा० जी० डब्ल्यू० लीटनर की पुस्तक 'दरदिस्तान की भाषाएं और जातियाँ' का आधार लेकर डा० ई० ट्रम्प, आर० बी० शा और डब्ल्यू० टोमस्चेक आदि विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया कि दरद-भाषाएं आर्य-भाषाओं के संस्कृत-परिवार की हैं। परन्तु जिस समय उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया था उस समय तक दरदिस्तान के चतुर्दिक बोली जाने वाली भाषाओं की व्युत्पत्ति और उनके परस्पर-संबंध का निर्णय नहीं हो पाया था। आगे चलकर मेजर बिदुल्फ और ग्रियर्सन ने इस संबंध में जो खोजें कीं उनसे यह बात प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो गई कि दरद-भाषाएं संस्कृत-परिवार की नहीं हैं।

दरद

मेजर बिदुल्फ ने अपनी पुस्तक 'हिन्दूकुश की जातियाँ' में इन जातियों को तीन वर्गों में बाँटा है। पहले वर्ग की जातियाँ वह हैं जो गल्चा-भाषाएं बोलती हैं। दूसरे वर्ग की जातियाँ चित्राल और काफ़िर देश की भाषा 'खो' बोलती हैं। और तीसरे वर्ग की जातियाँ गिल, गोरो, चिलीस तथा सिंध घाटी के अन्य छिट-पुट स्थानों पर और बगचरिक में गावों और स्वात और पंजकोर घाटियों में तोरवाली आदि दरद-भाषाएं बोलती हैं। उनके अनुसार पहले वर्ग (गल्चा) की भाषाएं प्राचीन फ़ारसी (ज़ेन्द) से उत्पन्न हुई हैं, और तीसरे वर्ग की भाषाएं

संस्कृत के अधिक निकट हैं। खो-वारी का फ़ारसी और संस्कृत दोनों से बराबर का संबंध है, और यह सिद्ध किया जा सकता है कि वह दोनों के बीच की भाषा है।

विडुल्फ के अनुसार शिन जति के लोग पहले उत्तर से चित्राल घाटी के द्वारा आये और हिमालय की दक्षिणी घाटियों में बस गए। कालान्तर में वे उत्तर की ओर सिंध घाटी में फैल गए— उन स्थानों पर जहां वे आजकल निवास करते हैं। यह संभवतः तब हुआ जब मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया। यह मत भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से तथ्यपूर्ण है। स्मरण रहे कि शिन सिंध घाटी के मार्ग से उत्तर दिशा को गये, काश्मीर की घाटी से होकर नहीं, जैसा कि टोमस्चेक ने सिद्ध करना चाहा है। टोमस्चेक का कथन है कि दरद भाषाओं की परिगणना हिन्दू-कुश की भाषाओं में नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका वाचिक मुड़ाव उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर होता है जो पंजाबी, सिंधी और काश्मीरी में भी मिलते हैं। अतः शिन और दरद सम्भवतः अपने वर्तमान उत्तरीय निवास-स्थान पर दक्षिण की दिशा से गये थे, अर्थात् काश्मीर के मार्ग से; और उन्होंने गन्धार या पंजाब से कभी संबंध नहीं तोड़ा।

यह सारी बहस भाषा-तात्त्विक दलीलों पर ही निर्भर है। परन्तु इन दलीलों से जाति-संबंधी प्रश्नों को नहीं सुलझाया जा सकता। क्योंकि उन क़बीलों और जातियों के बारे में ही जिनकी भाषाएं मरणासन्न हों, भाषा-विज्ञान हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकता है; अर्थात् जब हम यह पायें कि कोई जाति या क़बीला एक मृतप्राय भाषा से चिपटी हुई है, यद्यपि अन्य प्रबल भाषाएं उसे चारों दिशाओं से घेरे हुए हैं और उसकी भाषा को शनैः शनैः नष्ट करती जा रही हैं, तभी हमें यह अनुमान करने का अधिकार है कि उस जाति या क़बीले की मरणासन्न-भाषा ही मूल-भाषा है और इससे हम उस क़बीले के प्राचीन जाति-विषयक संबंध-सूत्रों का सुराग़ खोज सकते हैं। एक प्रकार से दरद-भाषाओं की भी यही दशा है। पश्तो और भारतीय आर्य भाषाएं उन्हें धीरे-धीरे पदच्युत करती जा रही हैं। वे अभी तक बची हुई हैं, इसका कारण यही है कि उनके बोलने वाले सुदूर-दुर्गम प्रदेशों में रहते हैं।

जिन प्रदेशों में दरद भाषाएँ बोली जाती हैं उनके उत्तर-पश्चिम और दक्षिण पश्चिम की दिशाओं में ईरानी भाषाएं (गल्चा और पश्तो) बोली जाती हैं। दक्षिण और दक्षिण-पूरब में भारतीय आर्य (संस्कृतिक) भाषाएं बोली जाती हैं। पूरब में तिब्बती की अनेक स्थानीय बोलियां और उत्तर-पूरब में हुँज़-नगर की अनार्य भाषा (जिसका वंश-कुल अज्ञात है) बुरुशस्की बोली जाती है। इनमें से आधुनिक काल में केवल तिब्बती ने ही शीना को प्रभावित किया है। शीना दरद-भाषाओं

भाषाओं ने अपनी विशेषताएं अपने ही ढंग पर विकसित कीं। ये विशिष्टताएं ईरानी या भारतीय दोनों भाषाओं के लिए बाह्य और अनोखी हैं। प्राचीन काल में किसी भी विदेशी आक्रमणकारी की आँख उनके देश पर नहीं पड़ी, और सिकन्दर (३२७ ई० पू०) और तैमूरलंग (१३९८ ई०) के आक्रमणों के साथ ही बाहर-वालों की भनक उनके कान तक पहुंची, अन्यथा दरद पिछली शताब्दी के मध्य तक अपना एकान्त जीवन ही बिताते रहे।

संस्कृत के वैयाकरणों ने उस समय लिखा जब कि प्राकृतें खूब समृद्ध हो चुकी थीं। इसी कारण उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया कि किस प्रकार पैशाची ने उन रूपों को सुरक्षित रखा है जो प्राकृतों में नये ध्वनि-विकारों के कारण कभी के बदल चुके हैं। आज भी यही दशा है। वर्तमान दरद-भाषाओं में आज भी ऐसे शब्द हैं, जिनका रूप कभी बदला ही नहीं, और जो भारतीय भाषाओं में अब प्रयोग में नहीं आते, केवल वैदिक-संस्कृत में जिनके दर्शन होते हैं।

विद्वानों ने इस ओर भी ध्यान दिलाया है कि यूरोपीय जिप्सियों की भाषा में और दरद-भाषा में विलक्षण समानता है। हमें ज्ञात है कि जिप्सी (हब्सी) भारत से ही गये थे और इसमें सन्देह नहीं कि उनकी मूल भारतीय भाषा दरदी की ही कोई प्रकार थी।

हम पहले बता चुके हैं कि पिशाचों ने सिंध के किनारे-किनारे दूर तक अपने उपनिवेश बसाये थे। ईसा से तीसरी शताब्दी पूर्व के मध्य में सम्राट् अशोक ने भारत के कोने-कोने में शिला-लेख स्थापित कराये। ये शिला-लेख अपने समय की प्रचलित स्थानीय बोली या भाषा में होते थे। और हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि *शाहबाज़गढ़ी* के शिला-लेख में, जो वर्तमान यूसुफ़ज़ाई देश में दरद-प्रदेश के अत्यन्त निकट है, जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह भाषा अनेक रूपों में दरद भाषा से मिलती-जुलती है।

दरद-वर्ग की तीन भाषाओं, शीना, कोहिस्तानी और काश्मीरी का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इनमें शीना सबसे शुद्ध है और गिलगिती, चित्राली, अस्तोरी, चिलासी और द्रास की ब्रोक्पा आदि बोलियों का समूह है। शीना साहित्यिक भाषा नहीं है और न उसकी कोई लिपि ही है। डा० लीटनर आदि ने शीना के ग्राम-गीतों का संग्रह और अनुवाद किया है, परन्तु अभी तक इस भाषा के विषय में पर्याप्त खोज-बीन नहीं की गई है। कोहिस्तानी पश्चिमोत्तर शीना की अनेक असंबद्ध बोलियों का समूह है और उन पर भारतीय भाषाओं और पश्तो के प्रभाव स्पष्ट लक्षित हैं। काश्मीरी साहित्यिक भाषा बन जाने के कारण अनेक

प्रभाव ग्रहण कर चुकी है।

यहां पर काश्मीरी की ध्वनि या वर्ण-योजना, वाक्य-योजना, पिंगल और शब्द-भंडार की परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। ग्रियर्सन ने यह परीक्षा बड़े विस्तार से और विद्वत्तापूर्वक की है। यहां केवल कतिपय विशिष्टताओं का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा ताकि पाठक यह अनुमान कर सकें कि काश्मीरी एक स्वतंत्र भाषा है, और संस्कृत की बोली मात्र नहीं है।

दरद भाषाओं में स्वनंत वर्ण की (कोमल) प्राण-ध्वनियां नहीं होतीं। घ का ग, झ का ज या ज़, ढ का ड या र, ध और भ का द और ब बन जाते हैं। यह नियम किसी भारतीय भाषा में नहीं मिलता परन्तु काश्मीरी में साधारण है। दरद भाषाएं अपने स्वनंत वर्णों को इसी प्रकार हकार या विसर्ग से अयुक्त करती हैं।

इसके अतिरिक्त दरद भाषाओं में बहुधा मूल स्वनंत वर्ण भी कठोर हो जाते हैं, जैसे ग का क, ज का च, ड का ट, द का त, व या ब का प हो जाता है। अब ये कठोर वर्ण पुनः कोमल होते जाते हैं। दरद भाषाओं की यह भी विशेषता है कि उनमें मूर्धन्य और दंत्य वर्ण बिना योजना के घुल-मिल जाते हैं।

वाक्य-योजना की दृष्टि से काश्मीरी अन्य सभी भारतीय भाषाओं से भिन्न है। भारतीय भाषाओं में पहले कर्त्ता, फिर कर्म या विधेय, और अन्त में क्रिया आती है। परन्तु काश्मीरी में क्रिया, कर्म या विधेय से पूर्व आती है, जैसे फ़ारसी या अंग्रेज़ी में।

आधुनिक काश्मीरी में संस्कृत के पिंगल का प्रयोग नहीं होता। प्रारंभ में होता था, परन्तु अब सारे छन्द ईरानी हैं, और हिन्दू-महाकाव्यों में भी उनका प्रयोग किया गया है, जैसे रामावतार चरित में फ़ारसी के बहरे हज़ाज का प्रयोग हुआ है।

काश्मीरी का शब्द-भंडार ही अनेक विवादों और भ्रामक परिकल्पनाओं का कारण बना है। शब्द-भंडार के आधार पर ही लोग काश्मीरी को संस्कृतिक भाषा घोषित करते हैं। परन्तु यह दावा ग़लत है। शब्द-भंडार किसी भाषा के वर्गीकरण का आधार नहीं बन सकता, अन्यथा उर्दू को ईरानी-वर्ग की भाषा स्वीकार करना पड़ेगा। और यदि यही प्रमाण रखा जाय तो आज की बोल-चाल की काश्मीरी में ६० फ़ीसदी विदेशी शब्द फ़ारसी के होते हैं, इसलिए उसे हमें ईरानी परिवार की भाषा घोषित करना होगा।

दो हज़ार वर्षों से काश्मीरी पर भारतीय प्रभाव पड़ते आये हैं। दरद-

भाषाओं में काश्मीरी ही एक ऐसी भाषा है, जिसमें साहित्य है और जिसकी अपनी लिपि है। काश्मीर संस्कृत के विद्वानों और शैव-दर्शन के प्रतिपादकों का शताब्दियों तक प्रधान केन्द्र रहा है। संस्कृत भाषा में यहां पर जगत्-प्रसिद्ध लोक-परंपरा और जन-श्रुति उत्पन्न हुई है और संस्कृत के विश्व-वन्ध्य महाकवियों ने यहां जन्म लिया है। ऐसे प्रबल प्रभावों के निरंतर पड़ने के पश्चात् भी यदि काश्मीरी में संस्कृत व्युत्पत्ति के अगणित शब्द प्रविष्ट न हो जाते तो आश्चर्य होता।

परन्तु फिर भी अनेक अत्यन्त साधारण शब्द, जो अत्यन्त प्राचीन हैं, जिनके रूप मिश्रण के बावजूद नहीं बदले और जो कभी उधार नहीं लिये जाते, दरद व्युत्पत्ति के हैं, जैसे संख्या-सूचक शब्द, या माता, पिता आदि के पर्याय। इनमें से कुछ भारतीय भाषाओं में भी प्रयुक्त होते हैं।

सांस्कृतिक और भाषा तात्त्विक दृष्टि से काश्मीरी अत्यन्त महत्व की भाषा है, क्योंकि यही एक आर्य-भाषा है जो व्यवहित (analytic) से संहित (synthetic) भाषा बनने की स्थिति में है।

सबसे प्राचीन ज्ञात भारतीय भाषा वेदों की संस्कृत है। यह भाषा अत्यधिक संहित थी। उसमें लेटिन और ग्रीक की ही तरह संज्ञा के विभक्ति-योग और क्रिया के संयोग की व्यवस्था जटिल थी। परन्तु कालान्तर में यह भाषा विकसित होकर व्यवहित हो गई। हिन्दी ऐसी भाषा है जो अंग्रेज़ी या फ्रेंच के समान व्यवहित है। उसमें संज्ञा के अधिक-से-अधिक दो कारक होते हैं और वे संबंध-बोधक उपसर्गों द्वारा ही रूपान्तरित होते हैं, जबकि क्रिया के केवल एक या दो कारक ही शेष रहे हैं, बाकी की पूर्ति सहायक क्रियाओं द्वारा की जाती है। उदाहरण के लिए संस्कृत के 'गृह' और लेटिन के mansio से 'गृहस्थ' या mansionis में कारक-अर्थ का परिवर्तन शब्द के रूप में परिवर्तन करके किया जाता है। परन्तु हिन्दी में घर से घर—का और फ्रेंच में maison से une maison बनता है, अर्थात् यह परिवर्तन प्रत्यय या उपसर्ग जोड़कर किया जाता है, शब्द के रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। यह व्यवहित विभक्ति योग हुआ।

इसी प्रकार हिन्दी और फ्रेंच में काल-वाचक अर्थ का परिवर्तन शब्द के रूप में परिवर्तन करके नहीं होता वरन 'गा' आदि सहायक शब्द जोड़कर किया जाता है। यह व्यवहित संयोग हुआ।

काश्मीरी-भाषा अपने विकास के एक नये चरण में प्रवेश कर रही है और व्यवहित से संहित होती जा रही है। वैसे उसमें अभी तक संज्ञा का रूपकरण प्रधानतः व्यवहित ही है, जैसे 'गर' (घर) का काश्मीरी 'गरकु' (गर–कु = घर–का)

बनता है, परन्तु यह उल्लेखनीय है कि 'कु' यहां अब 'गर' से संयुक्त हो गया है और हिन्दी के 'का' के समान अलग शब्द नहीं रहा। संस्कृत के 'गृहस्य' की तरह सम्बन्ध-कारक में 'गरुकु' भी एक शब्द बन गया है। अर्थात् शब्दों का रूपकरण पुनः संहित होता जा रहा है। इसी प्रकार क्रिया-पदों का संयोग भी संहित होता जा रहा है, और भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए यह एक महत्वपूर्ण अवसर है कि वे एक व्यवहित भाषा के संहित होने की विलक्षण क्रिया को अपने सामने संपन्न होते देख सकते हैं। काश्मीरी में अभी व्यवहित-रूपों के साथ-साथ संहित-रचना भी होती जा रही है, जब कि बंगाली-मराठी आदि भाषाओं में व्यवहित-संयोगों का एकदम परित्याग कर दिया गया है। इसी कारण काश्मीरी का महत्व है। भाषा-विज्ञानियों ने उसे व्यवहित से संहित होने के मार्ग में ही पकड़ लिया है और इससे वे इस तथ्य की पड़ताल करने में सफल हुए हैं कि किस प्रकार बंगाली या मराठी भाषाओं में संहित-संयोग विकसित हुए। इस संबंध में अनेक प्रकार के अनुमान किये जाते थे, परन्तु काश्मीरी ने उन सारे अनुमानों को ठिकाने लगा दिया है, और निश्चित प्रमाण पेश किया है। ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं के एक विकास-चरण से दूसरे विकास-चरण तक पहुंचने के क्रम का अध्ययन करते हुए यह परिणाम निकाला है कि भारतीय भाषाओं की रचना सब से पहले संहित थी, फिर व्यवहित हो गई (जैसे हिन्दी), और अन्त में पुनः काश्मीरी की तरह यौगिक अथवा अर्ध-संहित अवस्था से निकल कर बंगाली और मराठी की तरह संहित बन गई। भाषाओं के विकास का यही क्रम है।

काश्मीरी की प्राचीन लिपि शारदा है। यह लिपि नागरी के ही आधार पर बनाई गई थी—अक्षर-प्रति-अक्षर वैसी ही है, केवल अक्षरों की आकृति भिन्न है, और काश्मीरी के स्वर-विधान के अनुसार उसमें अतिरिक्त स्वरों के चिन्ह पूरे हैं। आजकल शारदा लिपि का प्रयोग यदा-कदा ही किया जाता है। अधिकतर फ़ारसी लिपि का ही प्रयोग होता है, यद्यपि फ़ारसी का स्वर-विधान उसके लिए अनुपयुक्त है। परन्तु जिस प्रकार गत चार-पाँच शताब्दियों से पड़ने वाले फ़ारसी प्रभाव के कारण काश्मीरी भाषा में असंख्य फ़ारसी व्युत्पत्ति के शब्द और मुहावरे घुल-मिल गए हैं, उसी प्रकार उसकी लिपि भी प्रचलित हो गई है। काश्मीरी के लेखक और विद्वान् इस बात पर एकमत हैं कि फ़ारसी लिपि में ही नये स्वर-चिन्ह जोड़कर काश्मीरी की प्रामाणिक लिपि तैयार करनी पड़ेगी, नागरी या शारदा का पुनः प्रचलन संभव न हो सकेगा। केवल डा० तोशखानी आदि भाषाशास्त्री 'अन्तर्राष्ट्रीय लिपि' का प्रतिपादन कर रहे हैं, परन्तु जब तक जातीय और धार्मिक

पाँच



काश्मीर का साहित्य



काश्मीर में साहित्य की रचना तीन भाषाओं में हुई है। बौद्धों और हिन्दुओं के काल में ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में होती रही, यद्यपि काश्मीरी भाषा ही उस समय भी बोली जाती थी। बौद्ध और हिन्दू राजाओं ने काश्मीरी को कभी महत्व नहीं दिया, क्योंकि उनके समय में संस्कृत ही राज-भाषा थी। किस समय आर्य ब्राह्मणों ने आकर काश्मीर पर अपना आधिपत्य जमाया, अतः किस समय से राजकीय व्यवहार में संस्कृत का प्रयोग होने लगा, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता।

मुसलमान शासकों के समय में धीरे-धीरे संस्कृत का महत्व कम होने लगा और उसका स्थान फ़ारसी ने ले लिया। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक फ़ारसी ही राज-भाषा बनी रही।

बौद्ध और हिन्दू-काल में काश्मीरी भाषा की शारदा-लिपि बनाई गई थी, परन्तु फिर भी उस काल का काश्मीरी का लिखित अथवा अलिखित साहित्य अप्राप्य है। श्रुति-परम्परा से जो कथाएं संकलित की गई हैं, उनमें से कुछ अवश्य प्राचीन काल की होंगी, परन्तु इस लोक-साहित्य का निश्चित रचना-काल बताना कठिन है, और इस दिशा में अभी तक विस्तृत और गम्भीर खोज भी नहीं की गई।

मुसलमान शासकों के समय से काश्मीरी में साहित्य का निर्माण शुरू हुआ और यद्यपि राजभाषा फ़ारसी थी, उस साहित्य की परम्परा काश्मीरी भाषा में ही व्यक्त होती रही।

इस प्रकार काश्मीर का साहित्य संस्कृत, फ़ारसी और काश्मीरी भाषाओं में निर्मित हुआ है।

काश्मीर के प्राचीन इतिहास का हमें जितना कुछ पता चला है, उससे यही

परिणाम निकाला जा सकता है कि गत दो-ढाई हज़ार वर्षों से काश्मीर में सामन्ती समाज की व्यवस्था रही है, उत्पादन के साधन पुराने ढंग के और अत्यन्त सीमित रहे हैं। परन्तु इसके बावजूद अपने इतिहास की इस लम्बी अवधि में काश्मीरियों ने अनुपम सांस्कृतिक उन्नति की है। शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिसकी जानकारी उन्होंने प्राप्त नहीं की और जिसकी खोज-बीन और उन्नति में उन्होंने भाग न लिया हो। दर्शन, धर्म, शिल्प, ज्योतिष, साहित्य, इंजीनियरी आदि सभी क्षेत्रों में उन्होंने प्राचीन काल में जो कार्य किया वह आधुनिक युग के लिए भी विलक्षण ही कहा जायगा। काश्मीरियों ने अनेक विषयों पर शतशः ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु उनमें से अब थोड़े ही उपलब्ध हैं।

दर्शन

प्राचीन काश्मीरियों ने अपना विशिष्ट दर्शन उत्पन्न किया। यह दर्शन वेदान्त से भिन्न है, उससे अधिक गंभीर और जन-प्रिय है। इस दर्शन को शैव-दर्शन या त्रिक-दर्शन कहते हैं। पूर्ण ब्रह्मवाद, विचार की गंभीरता और मौलिकता इस दर्शन की विशेषता है। यद्यपि शैवदर्शन एक आदर्शवादी दर्शन है, परन्तु अत्यन्त तर्कपूर्ण है, जिसके कारण वह यथार्थ या भौतिक तत्व की नितान्त अवहेलना नहीं करता। इसके अतिरिक्त इस दर्शन में जादू-टोने और बलिदान आदि जैसी कुप्रथाओं का कोई स्थान नहीं है।

थोड़े ही दिन पहले शैव-दर्शन का साहित्य पाश्चात्य विद्वानों के सामने लाया गया है। बड़े-बड़े विद्वानों ने इस दर्शन का अध्ययन किया है और उनका विचार है कि संसार में जितने भी धार्मिक दर्शन हैं उनमें यह दर्शन सबसे ज्यादा गंभीर और समन्वित है।

शैव-दर्शन का सर्वप्रथम प्रतिपादन आठवीं शताब्दी में वसुगुप्त ने किया था। उसने इस विषय पर 'स्पन्द कारिका' नाम से एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी। वसुगुप्त के पश्चात् नवीं शताब्दी में कल्लट भट्ट ने 'स्पन्द वृत्ति' नाम की पुस्तक लिखी। कुछ समय बाद ही एक महान् विद्वान् सोमानन्द हुआ, जिसने 'शिवदृष्टि' नाम से शैव-दर्शन की अत्यन्त गंभीर व्याख्या की। उपलदेव, जिसकी पुस्तकें शैव-दर्शन की सबसे प्रामाणिक पुस्तकें मानी जाती हैं, दसवीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ। उसने 'प्रत्यभिग्न' और 'स्तोत्रवली' आदि पुस्तकें लिखीं। परन्तु शैव-दर्शन का सबसे पूर्णदर्शी, प्रतिभाशाली, आकर्षक और प्रगल्भ लेखक-विचारक अभिनवगुप्त हुआ है, जो गुप्तवंश के राज्यकाल में दसवीं शताब्दी के अन्त में हुआ था। अभिनवगुप्त ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'तंत्रलोक'

है, जो दार्शनिक प्रतिभा का चमत्कार उपस्थित करती है। शैव-दर्शन के संबंध में तीन नाम और उल्लेखनीय हैं—क्षेमेन्द्र, क्षेम राजा और योग राजा। क्षेमेन्द्र की पुस्तकों का अन्यत्र उल्लेख हो चुका है। योगराजा ११०० ई० के लगभग हुआ। उसने 'परमार्थसार' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक लिखी है।

साहित्य

साहित्य के संबंध में काश्मीरियों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से कतिपय अपने महत्व के कारण उल्लेखनीय हैं। भीमभट्ट ने ७०० ई० में 'रावणार्जुनीय', दामोदरगुप्त ने ७६० ई० में 'कुहिनी माता', क्षीरस्वामी ने ८०० ई० में 'शब्द-संग्रह', रत्नाकर ने ८५० ई० में 'हरविजय', श्री स्वामी ने ८४० ई० में 'कफ्फनाभ्युदय' आदि रचनाएं कीं। वल्लभदेव ने ९०० ई० में कालिदास की कृतियों की टीका की। क्षेमेन्द्र ने ९७५ ई० में 'दर्शोपदेश' लिखा। क्षेमेन्द्र ने अत्यन्त प्राचीन काल में किसी गुणाढ्य नामक विद्वान् द्वारा पैशाची भाषा में लिखी गई 'बृहद्कथा' का 'बृहद् कथा मंजरी' के नाम से संस्कृत में अनुवाद किया। सोमदेव ने १००० ई० के लगभग पुनः 'बृहद्कथा' का 'कथा सरित्सागर' के नाम से अनुवाद किया। 'कथा सरित्सागर' कथा-साहित्य का एक विशाल ग्रन्थ है, जिसके अंश कई भाषाओं में अनूदित हो चुके हैं। बिल्हण ने ११०० ई० में 'विक्रमांकदेवचरित' की रचना की, मंखा ने ११६० ई० में 'श्रीकंठ-चरित' लिखा, और जयद्रथ ने १२०० ई० में हरिचरित-चिन्तामणि की रचना की।

व्याकरण

कतिपय विद्वानों के अनुसार पातंजलि ईसा की शताब्दी के पूर्व काश्मीर में ही उत्पन्न हुए थे। उनके अतिरिक्त और भी अनेक वैयाकरण यहां हुए हैं। चन्द्र दूसरी शताब्दी में हुआ, कृष्ण स्वामी और वामन राजा जयपीड (७७४-८०८ ई०) के समय में हुए, और कय्यट ९५० ई० में हुआ; उसने 'लघुवृत्ति' नाम का ग्रन्थ लिखा।

अलंकार-शास्त्र

अलंकार-शास्त्र पर अनेक विद्वानों ने पुस्तकें लिखीं। वामन भट्ट की ७५० ई० में लिखी पुस्तक 'काव्यालंकार', रुद्रट की ८२५ ई० में लिखी पुस्तक 'शृंगार तिलक'; रुय्यक की ११२५ ई० में लिखी पुस्तक 'अलंकार-सर्वस्व', और मम्मट की ११५० ई० में लिखी पुस्तक 'काव्य प्रकाश' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

ज्योतिष

फलित ज्योतिष के संबंध में काश्मीरी विद्वानों की पुस्तकें अपूर्व हैं। उन्होंने इस विषय का अध्ययन किया था। आज भी भारत के विद्वान काश्मीर के भास्कराचार्य, आर्यभट और रत्नकंठ

की रचनाओं को प्रमाण मानते हैं।

काश्मीरियों ने काम-विज्ञान का भी विशेष अध्ययन किया था। काश्मीर के प्रधान-मंत्री कोका पंडित ने, जो लोधीवंश के राज्यकाल में थे, बड़े परिश्रम के बाद जगद्प्रसिद्ध 'कोकशास्त्र' की रचना की। प्रणय-कला के बारे में जिस दूसरी पुस्तक का आत्यन्तिक महत्व है, वह वसुनन्द महाराज ने कोकशास्त्र से भी पूर्व चौदहवीं शताब्दी में लिखी थी। इस महत्वपूर्ण पुस्तक का नाम 'कामशास्त्र' है।

काम-विज्ञान

बारहवीं शताब्दी में रामचन्द्र भट्ट और आनन्द ने राजनीति-शास्त्र पर पुस्तकें लिखीं।

मुस्लिम-काल में काश्मीर के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन में धार्मिक परिवर्तनों के कारण यदा-कदा साम्प्रदायिक विद्वेष की प्रवृत्तियों के ऊपर उभर आने के बावजूद लोगों का सांस्कृतिक ह्रास नहीं हुआ। मुस्लिम-काल में भी संस्कृत-ग्रन्थों की रचना पूर्ववत् जारी रही, यद्यपि राजभाषा फ़ारसी हो गई थी, और केवल मुसलमानों ने ही नहीं वरन् हिन्दुओं ने भी समान रूप से उसका अध्ययन किया। साथ ही कुछ दिनों के भीतर अनेक स्थानीय लेखक फ़ारसी में भी पैदा हो गए।

मुस्लिम-कालीन संस्कृत रचनाओं में जगन्धर भट्ट की 'स्तुति-कुसुमांजलि' (१२५० ई०), जो अपने साहित्यिक गुणों के कारण प्रशंसित हो चुकी है, सिती कंठ की 'बाल-बोधिनी' (१४७५ ई०), वल्लभदेव की 'पद्मावली' (१५५० ई०) और शिवोपाध्याय की 'विज्ञान-भैरव' (१७७५ ई०) जो शैव-दर्शन की एक अत्यन्त प्रामाणित पुस्तक है, लिखी गई।

मुस्लिम-काल में विरचित फ़ारसी पुस्तकों की संख्या ३५० के लगभग है। ये पुस्तकें दर्शन, धर्म, इतिहास, भूगोल, चिकित्सा-शास्त्र और इतिहास की हैं।

संस्कृत, फ़ारसी और अन्य भाषाओं में लिखी गई काश्मीर के इतिहास की पुस्तकों का उल्लेख 'ऐतिहासिक सूचनाएं' वाले प्रकरण में हम पहले ही कर चुके हैं।

इस काल में जो जीवन-चरित लिखे गए, उनमें ख्वाजा मिरभ बजाज़ (१५७५ ई०) की 'तज्कराए मुर्शदीन', बाबा दाऊद मुश्कानी (१६५३ ई०) की 'असरारुल अबरार', और मुल्ला ज़िहनी की 'तज़कराए-शोहराए-काश्मीर' (१६५५ ई०) महत्वपूर्ण और उल्लेनीय हैं।

जीवन-चरित

ज़ैनुलाब्दीन के राज्यकाल में मुल्ला अहमद अल्लामा ने राजतरंगिनी और महाभारत का संस्कृत से फ़ारसी में अनुवाद किया। कुछ समय बाद

दारा शिकोह ने कतिपय उपनिषदों का अनुवाद फ़ारसी में किया।

दर्शन

दर्शन के क्षेत्र में बाबा दाऊद ख़ाकी, ख्वाजा हबीबुल्ला नवशहरी और मिर्ज़ा अकमलुद्दीन कामिल के नाम प्रमुख हैं। मिर्ज़ा अकमलुद्दीन कामिल का विशाल ग्रन्थ 'बहारुल उरफ़ान', जो मौलाना जलालुद्दीन रूमी के जवाब में लिखा गया था, चार भागों में है और उसमें ८० हजार शेरें हैं।

मुगल-कालीन काश्मीर में फ़ारसी की कविता अपने चरम-विकास को पहुंची। इस जमाने के अनेक फ़ारसी में कविता करने वाले काश्मीरी कवियों की कृतियां मिलती हैं। सर्फ़ी, मुल्ला अशरफ़ बहाउद्दीन मत्तू, मौलाना मज़हारी, मुल्ला तैयब और मुल्ला फरोगी आदि कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु मुस्लिम-काल का सर्वश्रेष्ठ कवि मुहम्मद ताहिर ग़नी ऐसा कश्मीरी है, जिसने उच्चकोटि की फ़ारसी कविता लिखी है और जिसे ईरान तक के कवि उस्ताद और महान् कवि स्वीकार करते हैं। ग़नी कश्मीरी औरंगज़ेब के समय में हुआ था।

हिकमत पर एक पुस्तक हकीम मसूर और घोड़ों की बीमारियों पर एक पुस्तक मुहम्मद मुराद ने लिखी। मुल्ला मुशी फ़ानी ने शाहजहां के राज्य-काल में संसार के विभिन्न धर्मों पर 'दबिस्ताने मजाहिब' नाम की एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जिसका अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं में भी अनुवाद हो गया है। जो कश्मीरी मुसलमान बन गए, उन्होंने अरबी का भी अध्ययन किया और उन्होंने लगभग २५ ग्रन्थ अरबी भाषा में भी लिखे हैं। ये ग्रन्थ अधिकतर मुसलमानों की धार्मिक प्रथाओं और क्रियाओं के बारे में हैं। अरबी के लेखकों में मुल्ला मुहसन [illegible] का नाम उल्लेखनीय है। वह औरंगज़ेब के समय में हुए थे।

पठानों और सिखों और डोगरों के राज्य-काल में काश्मीर का सांस्कृतिक जीवन एक प्रकार से छिन्न-भिन्न हो गया, साहित्य और दर्शन की प्रगति एकदम रुक गई। अत्याचार, उत्पीड़न और आर्थिक शोषण ने साहित्य की प्रेरणाओं के स्रोत बन्द कर दिये। कम-से-कम संस्कृत और फारसी भाषाओं में तो साहित्य की रचना एक प्रकार से बन्द हो गई। फिर भी इस काल में कतिपय महत्वपूर्ण रचनाएं फारसी में अवश्य हुईं जिनका उल्लेख करना जरूरी है।

मुंशी भवानीदास (१८०० ई०) पठानों के काल में हुए। उनकी नई शैली की काव्य पुस्तक '[illegible]' ईरान तक फारसी के विद्वानों द्वारा समादृत हो चुकी है। पंडित [illegible] 'बेताब' (१८६० ई०) सिखों के काल में हुए। उन्होंने फिरदौसी के 'शाहनामा' के मुकाबले की पुस्तक '[illegible]' लिखी। पंडित

राजकौल अर्ज़बेगी 'दयरी' और पंडित राजकाकदर 'फर्रुख़' डोगरों के राज्य-काल में हुए। पंडित राजकौल की कविता साहित्य के मापदंडों से केवल ग़नी. कश्मीरी की कविता से ही दूसरे दर्जे की है, अन्यथा काश्मीर के अन्य सभी फ़ारसी कवियों की तुलना में श्रेष्ठ और प्रथम कोटि की है।

हम पहले कह चुके हैं कि हिंदू-काल में संस्कृत राजभाषा थी, परन्तु जनता संस्कृत नहीं बोलती थी। वह काश्मीरी ही बोलती थी। काश्मीरी का हिन्दू और बौद्ध-काल का कथा और काव्य-साहित्य अलग से संकलित नहीं किया गया है, परन्तु जे० हिन्टन नोलीस ने प्राचीन काश्मीरी मुहावरों और लोक-कथाओं के जो संकलन किये हैं, तथा सर ऑरल स्टीन आदि अन्य विद्वानों ने लोक-कथाओं के जो संग्रह तैयार किये हैं, उनमें कुछ कथाएं तो अवश्य ही प्राचीन और मध्य-काल की होंगी। यह एक इतिहास-सिद्ध तथ्य है कि जिस जाति का प्राचीन साहित्य लिखित नहीं होता, उसका ज्ञान-विज्ञान, अनुभव और प्रगति का इतिहास उसके लोक-साहित्य में सुरक्षित रहता है और श्रुति-परंपरा इस साहित्य को लोगों की स्मृति से खोने नहीं देती। काश्मीर में भी ऐसी श्रुति-परंपरा अत्यन्त साधारण है। यहां रावीस होते हैं जो लोक-कथाएं सुनाते हैं, और उनका वर्णन इतना गठित, संयत और नियमित होता है कि एक ही कथा को यदि आप रावीस के मुख से दो-चार वर्ष बाद सुनें तो दोनों वर्णनों में पाई और विराम तक का अन्तर नहीं मिलेगा। हिन्दू-काल में काश्मीरी भाषा की शारदा-लिपि का निर्माण हुआ था, परन्तु फिर भी काश्मीरी-भाषा में कोई हिन्दू-कालीन पुस्तक प्राप्त नहीं है।

काश्मीरी भाषा का साहित्य (प्राचीन काल)

मुस्लिम-काल में काश्मीरी भाषा में न केवल फ़ारसी के असंख्य शब्द और मुहावरे घुल-मिल गए बल्कि काश्मीरी भी फ़ारसी लिपि में लिखी जाने लगी। ग्रियर्सन और दूसरे विद्वानों का मत है कि काश्मीरी साहित्य की शैली में दो प्रवृत्तियां चलने लगी हैं। पंडितों की काश्मीरी अधिक संस्कृत-गर्भित होने लगी और मुसलमानों की काश्मीरी अधिक फ़ारसी-गर्भित होने लगी। परन्तु लेखक का स्वयं का अनुभव है कि शैलियों का यह भेद अधिक गहरा नहीं है, क्योंकि साधारण कश्मीरी भाषा में आजकल यदि फ़ारसी व्युत्पत्ति के शब्दों की बहुलता है तो साथ ही संस्कृत व्युत्पत्ति के शब्द भी कम नहीं हैं, और हिन्दू और मुसलमान समान रूप से संस्कृत अथवा फ़ारसी व्युत्पत्ति के शब्दों का काश्मीरी भाषा के व्याकरण के अनुसार प्रयोग करते हैं।

जिस समय काश्मीर में मुस्लिम-शासन स्थापित हुआ, उस समय इस्लामी-

जगत् में सूफ़ी मत का प्रभाव बढ़ रहा था। भारत में भी कबीर और दूसरे संत कवियों ने सूफ़ी सिद्धान्तों का प्रचार किया और एक काल तक भारतीय साहित्य में सूफ़ी प्रवृत्ति का ही ज़ोर रहा। इसी प्रकार काश्मीर में भी प्रारंभिक काश्मीरी कविता सूफ़ी प्रवृत्ति की कविता है। बाद में हिन्दू सम्प्रदाय के कवियों ने भक्ति-काव्य की रचना की और मुस्लिम सम्प्रदाय के कवि धीरे-धीरे धार्मिकता के संकुचित दायरे से बाहर निकल कर आधुनिकता की ओर प्रवृत्त होने लगे और गत एक शताब्दी से यहां स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की कविताएं होती आई हैं। राष्ट्रीय नव-जागरण के साथ स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति का स्थान राष्ट्रीय लौर प्रगति-वादी अथवा यथार्थवादी कविताओं ने ले लिया, और इस समय काश्मीरी के सभी प्रमुख कवियों की कृतियां राष्ट्रीय और प्रगतिशील विचार-भावनाओं से ओत-प्रोत हैं।

प्रेमनाथ बजाज़ के अनुसार काश्मीरी भाषा का सबसे पहला कवि राजनक शितीकंठ है जिसकी काव्य-पुस्तक 'महानय प्रकाश' तेरहवीं शताब्दी की कृति अनुमानित की जाती है। परन्तु ग्रियर्सन के अनुसार काश्मीरी की सबसे प्राचीन लेखिका भक्तकवि लल्लेश्वरी या लल्ला दे है जो संभवतः १४वीं शताब्दी में हुई थी। लल्लेश्वरी की सैकड़ों कविताएं घाटी-भर में प्रसिद्ध हैं। उनका संकलन 'लल्लावाक्यानी' के नाम से किया गया है। लल्लेश्वरी के बारे में प्रसिद्ध है कि वह एक योगिनी थी और निर्वस्त्र अवस्था में सारी घाटी में भ्रमण करती फिरती थी। उसकी सारी कविताएं धार्मिक हैं और नीति और उपदेश से ओतप्रोत हैं और शैवमत से प्रभावित हैं।

शेख नूरुद्दीन की ज़ियारत का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह एक फ़कीर थे और कवि थे। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से उनके भक्त हैं। शेख नूरुद्दीन का काश्मीरी साहित्य में वही स्थान है जो भारतीय साहित्य में कबीर का है। शेख नूरुद्दीन सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन के समय में हुए थे और प्रसिद्ध है कि वे लल्लेश्वरी के शिष्य थे। उनके उपदेशों का एक बड़ा ग्रन्थ मिलता है।

सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन के समय में 'बाणासुरवध' की रचना हुई थी, परन्तु लेखक का नाम अज्ञात है। उन्हीं दिनों सोमभट्ट ने बादशाह का जीवन-चरित काश्मीरी गद्य में 'ज़ैना चरित' के नाम से लिखा। उधभट्ट ने 'ज़ैना विलास' नाम की एक नाटकीय रचना की जो बादशाह के जीवन की एक विशिष्ट घटना को चित्रित करती है। इसी काल के साहिबकौल की 'कृष्णावतार' नाम की पुस्तक भी उल्लेखनीय है।

कवि दिवाकर प्रकाश भट्ट गोजवार (गुलिकावाटिका श्रीनगर) में रहता था और उसने काव्य में राम का इतिहास 'रामावतार चरित' के नाम से लिखा। उसका दूसरा काव्य-ग्रन्थ 'लव-कुश चरित' है। ये दोनों शुद्ध कश्मीरी भाषा के अत्यन्त काव्यमय ग्रन्थ हैं। अनेक कथाएं जो अन्य भारतीय राम-काव्य की परम्परा में नहीं मिलतीं, इन पुस्तकों में दी गई हैं, और सीता को मन्दोदरी की पुत्री लिखा है। सीता के उत्पन्न होने पर मन्दोदरी ने उसे त्याग दिया और तुरन्त रावण से शादी कर ली।

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रूपभवानी ने काव्य में अच्छी ख्याति पाई। परन्तु हब्बाख़ातून एक दूसरे प्रकार की स्त्री थी। वह एक किसान लड़की थी, परन्तु बाद में वह यूसुफ़ शाह चक (१५७६–८६ ई०) की मलका बनी। हब्बाख़ातून काश्मीरी की प्रसिद्ध कवि है। उसके गीत सूफ़ी ढंग के हैं। उसे संगीत से गहरा प्रेम था, इसी कारण उसने श्रीनगर में मौसीकी (संगीत) का विद्यालय भी खुलवाया था।

मार्तण्ड के पंडित परमानन्द की मृत्यु ६८ वर्ष की अवस्था में सन् १८२२ ई० में होना बताई जाती है। उन्होंने 'कृष्णावतार लीला' के नाम से कृष्ण का इतिहास लिखा। यह एक उच्चकोटि का काव्य-ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'राधा-श्याम वर सुदामाचरित' और 'शिवलग्न' उनके दो और ग्रन्थ हैं। उनके शिष्य, नागाम के लक्ष्मणजी ने 'नल दमयन्ती', कुरीगाम के प्रकाशराम ने 'रामायण' और वनपुट के किशनदास ने 'शिवलगन' आदि उपाख्यानों की रचना की। कृष्ण राज़दान ने १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक शैवदर्शन से ओतप्रोत काव्य 'शिव-परिणय' लिखा।

इस प्रकार २६ वीं शताब्दी के अन्त तक काश्मीरी काव्य में सूफ़ी सिद्धान्तों की या राम-कृष्ण-शिव संबंधी भक्ति-काव्य की प्रधानता रही, और 'संसार माया-मोह जाल 'सुख-दुखचरित' और 'निर्वाण देशश्लोकस्तव' आदि जैसी धार्मिक पुस्तकों की रचना होती रही। परन्तु १६वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही प्रसिद्ध कवि महमूद या मोहम्मद गामी काश्मीरी काव्य में एक नई धारा का सूत्रपात कर रहा था। महमूद गामी ने 'पंजगंज', 'यूसुफ़ जुलेखा', 'लैला-व-मजनूं' 'शीरीं-ओ-खुसरू' की प्रेम-कथाएं लिखीं। इस नई धारा का प्रारंभ होते ही अनेक उदीयमान कवियों ने महमूद गामी का अनुसरण किया और फ़ारसी कथाओं के आधार पर 'वामिक़-उजरा', 'निसाव', 'अमरसिंह', 'हारून रशीद', 'महमूद-ए-ग़ज़नवी' 'शेख़ सन्ना' आदि खंडकाव्यों की रचना की। वलीउल्लाह मत्तू ने 'हिमाल' का उपाख्यान और पीर मक़बूल शाह

कलवारी ने 'गुलरेज़' की प्रेम-कथा की रचना की। साथ ही वहवपोरे ने फिरदौसी के शाहनामे का काश्मीरी में अनुवाद किया।

धार्मिक उपाख्यानों और सूफ़ी गीतों की परिधि से एक बार बाहर निकलते ही काश्मीरी कवियों की कल्पना राजनीतिक-आर्थिक गुलामी के बावजूद उन्मुक्त होकर आकाश में उड़ानें भरने लगी। मोहम्मद गामी के पश्चात् काश्मीरी का एक महान कवि उत्पन्न हुआ—रसूलमीर। रसूल या रस्सुल मीर ने काश्मीरी काव्य में स्वच्छन्दतावादी, अर्थात् 'प्रेम और प्रकृति' को आश्रय बनाकर व्यक्ति की भावनाओं की अपने गीतों में अभिव्यंजना की। हिन्दी के पाठक जानते हैं कि 'छायावाद' का काव्य समाज के क्रूर बन्धनों के प्रति व्यक्ति का असन्तोष व्यक्त करता है। रस्सुलमीर के काव्य में यह असन्तोष अत्यन्त प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है, परन्तु उसके मुक्त प्रेम के गीत सामाजिक वास्तव की संकुचित, रूढ़िग्रस्त विचार-सीमाओं में आबद्ध नहीं हैं और इस प्रकार एक नये और अधिक मानवीय सामाजिक वास्तव की रूप-कल्पना अंकित करते हैं। इसी कारण रस्सुलमीर के गीत हर काश्मीरी की ज़बान पर हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस कवि के काव्य में जितना माधुर्य, विचार-गाम्भीर्य, भाव सौन्दर्य और रचना-सौष्ठव है उतना किसी अन्य काश्मीरी के काव्य में दुर्लभ है।

रस्सुलमीर के बाद काव्य में इतना परिमार्जन, विचार-गाम्भीर्य, कोमलता और सौष्ठव केवल 'महजूर'[1] की कविता में आया।

कवि महजूर लगभग चालीस वर्षों से काव्य-रचना करते आये हैं। आरंभ में वह रसूलमीर की ही तरह प्रेम-गीति लिखते थे। परन्तु राष्ट्रीय नवजागरण के साथ-साथ उनकी चेतना की परिधि व्यापक होती गई और उन्होंने अपनी कविता में प्रकृति और काश्मीरी जनता के ऐसे भावपूर्ण और वास्तविक चित्र अंकित किये कि उनकी कविता आश्चर्यजनक गति से लोक-प्रिय हो गई। काश्मीरी जाति के शोषित-पीड़ित जनों को प्राणवान वाणी मिली। उनका सुख-दुख, हर्ष-विषाद, उनके जीवन की क्रूर, कठोर वास्तविकता अभिव्यक्त हो उठी। केवल इतना ही नहीं, महजूर के साथ-साथ उनके शिष्य 'आज़ाद' ने भी 'ग़ज़ल-आराई' को तिलांजलि दी, और दोनों ने अपनी कविताओं द्वारा राष्ट्रीय चेतना फैलाने में पूरा योग दिया।

---

1. कवि महजूर की कविता का विवेचनात्मक परिचय पाठक लेखक की अन्य पुस्तक 'प्रगतिवाद' में प्रकाशित निबंध 'काश्मीरी भाषा, साहित्य और कवि महजूर' में पा सकते हैं।

राष्ट्रीय आज़ादी के आन्दोलन का व्यापक और गहरा प्रभाव काश्मीरी काव्य पर पड़ा है। महजूर और आज़ाद के अतिरिक्त इस बीच में आरिफ़, नादिम आदि अनेक उच्चकोटि के तरुण कवि काश्मीरी में प्रगतिशील, यथार्थवादी और क्रान्तिकारी कविताएं लिखते आये हैं। इन कविताओं में काश्मीरी कौम को जाग्रत होकर अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करने का पैग़ाम रहता है, एक अदम्य साहस और शोपण-हिंसा से रहित समाज की रचना करने का संदेश होता है। मिर्ज़ा आरिफ़ और नादिम न केवल उच्चकोटि के कवि हैं, वरन् सामाजिक विचारक भी हैं और इसी कारण महजूर और आज़ाद की अपेक्षा उनकी कविताओं में क्रान्ति का पैग़ाम अधिक मुखर है और उनकी भाव-विचार वस्तु अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और सुलझी हुई है।

राष्ट्रीय-जाग्रति फैलाने वाली प्रगतिशील काव्य-धारा आज भी काश्मीरी काव्य की प्रधान धारा है। सन् १९४७ ई० के अक्तूबर में जब पाकिस्तान की ओर से काश्मीर पर क़बाइली हमला हुआ उस समय यहाँ के सचेत कवियों ने भी अनुभव किया कि यह हमला काश्मीरी जनता की आज़ादी की तहरीक पर किया गया है और 'नया काश्मीर' के जनवादी स्वप्न को छिन्न-भिन्न करके काश्मीर को सर्वदा के लिए पाकिस्तान और अंग्रेज और अमरीकी साम्राज्यवादियों का गुलाम बनाने के लिए किया गया है। इस चेतना को लेकर उन्होंने कौमी-हिफाजत के महत् कार्य में पूरा सहयोग दिया और 'नेशनल कल्चरल फ्रन्ट' ने इन कौमी गीतों को 'गाये जा काश्मीर' के नाम से प्रकाशित कराया। साथ ही नेशनल कल्चरल फ्रन्ट ने इन गीतों को स्वर-बद्ध कराके 'जन-गायन' के रूप में प्रयुक्त किया, जिसके कारण आज काश्मीर की घाटी के दूर-सुदूर कोनों तक में देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत ये गीत और उनकी हृदय-ग्राही, ओजपूर्ण लय गूंजती है।

इसमें सन्देह नहीं कि मिर्जा आरिफ़ और नादिम के युद्धकालीन गीत अत्यन्त सशक्त और उत्साहवर्धक हैं। आसी, वर्क़ और उदीयमान कवि नूरमोहम्मद 'रोशन' के गीत भी उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि सचेत राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण काश्मीरियों में अपनी क़ौम का स्वाभिमान जाग्रत हुआ है और वे अब अपनी ही भाषा में काव्य और साहित्य की रचना करना उचित समझते हैं, परन्तु प्रकाशन की सुविधाएँ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। साथ ही काश्मीरी की अभी तक कोई ऐसी लिपि नहीं है जिसमें इस भाषा की सारी ध्वनियां व्यक्त हो सकें। फारसी लिपि के आधार पर कुछ नये चिन्ह जोड़कर इस कमी की पूर्ति करने की चेष्टा हो रही है। जिस समय ग़रीबी,

अशिक्षा दूर हो जायगी और प्रकाशन की सुविधाएं होंगी, काश्मीरी भाषा का साहित्य अन्य देशों के साहित्य की तरह ही उन्नत और समृद्ध होने का स्वप्न देख सकता है, क्योंकि जितना कुछ साहित्य इस समय काश्मीर में है, वह श्रेष्ठ और गौरवपूर्ण है।

छः

काश्मीरी स्थापत्य

काश्मीरी शिल्प और स्थापत्य बौद्ध, हिन्दू और मुस्लिम शैलियों का है, परन्तु अपनी विशेषता रखता है। काश्मीर इतना प्राचीन देश है, परन्तु यहां की किसी भी इमारत के संबंध में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह ईसा की शताब्दी के पूर्व की है। केवल हारवन और उष्कर की बौद्ध इमारतें ही कुशन काल की कही जा सकती हैं।

पश्चिमोत्तर भारत के साथ काश्मीर का संबंध एक दीर्घकाल तक रहा, फलतः यहां की बौद्ध और हिन्दू शैली पर इस सम्बन्ध की गहरी छाप परिलक्षित है।

भारत-यूनानी, पार्थियन और उत्तर-भारत के शक राजाओं के समय के सिक्के बहुलता के साथ काश्मीर में मिलते रहे हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि ईसा से दो शताब्दी पूर्व और एक शताब्दी बाद तक काश्मीर और क़ाबुल-पेशावर के बीच ज़ोरदार व्यापार चलता था। इसका प्रमाण भी है कि दूसरी शताब्दी में काश्मीर कनिष्क के साम्राज्य का अंग था, और कनिष्क के बाद भी बहुत दिनों तक गंधार के राज्य के अधीन रहा।

काश्मीर के प्राचीन बौद्ध मठों और विहारों की बनावट और संभवतः ऊंचाई भी एक ही होती थी, उसी प्रकार की जिस प्रकार उन दिनों गंधार के मठों और विहारों की होती थी। भेद केवल इतना था कि प्रयोग में लायी जाने वाली सामग्री और सजावट एक ही प्रकार की नहीं होती थी। उदाहरण के लिए पत्थर की स्थानीय खान होने के कारण उष्कर में पत्थर की चाहे जितनी ईंटें उपलब्ध हो सकती थीं, अतः उष्कर के मन्दिर के निर्माण में इनका भरपूर उपयोग किया गया। परन्तु हारवन में इमारत बनाने के लिए दाचीगाम नाले की चिकनी गोल बटियां और गोल पत्थर ही प्राप्य थे। इसी कारण यहां उष्कर की तरह दीवारें पत्थर की

चौकोर ईंटों की नहीं बल्कि नाले के उठाये गोल पत्थरों और गोल बटियों की हैं। हारवन मठ के राजगीरों को संभवतः इसका अनुमान हो गया था कि मिट्टी के गारे में एक-दो इंच के गोल पत्थरों को जोड़कर बनायी दीवार, पलस्तर के बावजूद, ज्यादा टिकाऊ नहीं हो सकती; बारिश पलस्तर और भीतर के गारे को धो देगी। इस कारण उन्होंने बीच-बीच में पत्थर के बड़े टुकड़े भी डाल दिये। इस शैली को स्थापत्य के विद्वान् (diaper-pebbles style) कहकर पुकारते हैं। हारवन का विशाल अर्ध वृत्ताकार मन्दिर इसी शैली का है। यह भी उल्लेखनीय है कि मंदिर की दीवारों के पलस्तर पर अत्यन्त सुन्दर डिज़ाइन की पकाई हुई ईंटें या टाइल लगाये गए थे। चहारदीवारी में ये ईंटें आज भी यत्र-तत्र लगी हुई हैं।

इस शैली के अतिरिक्त हारवन में एक और शैली का प्रयोग हुआ है। यह शैली एक बड़े स्तूप, उसकी चहारदीवारी और उसके साथ लगे उपासना-गृहों के रूप में व्यक्त हुई। तोरमन के समय का एक सिक्का इस स्तूप की सीढ़ियों के नीचे मिला है जिससे इस इमारत की तारीख निश्चित हो गई है और साथ ही शैली भी। अर्थात् यह स्तूप छठी या सातवीं शताब्दी का है और इसकी शैली अनगढ़ पत्थर के टुकड़ों को अलंकारी ढंग से चिनने की शैली है (diaper-rubble style)।

छठी-सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक की इमारतों को मध्यकालीन इमारतों के वर्ग में रख सकते हैं, यद्यपि इसके पश्चात् भी एक ही विशाल पत्थर के बने हुए खम्भों के मन्दिरों का निर्माण होता रहा—जैसे पटन और कोइल के मंदिर। इस काल की इमारतें पुराने वर्गीकरण के अनुसार बौद्ध और ब्राह्मण वर्गों में बांटी जा सकती हैं।

मध्यकालीन स्थापत्य—बौद्ध इमारतें

जहां तक सामग्री, अलंकार-योजना और टेकनीक का संबंध है, इन दोनों वर्गों की इमारतों में कोई मौलिक भेद नहीं है। परन्तु चूंकि दोनों सम्प्रदायों की धार्मिक आवश्यकताएं भिन्न थीं, इस कारण बौद्ध और हिन्दू वर्ग की इमारतों की योजना और बनावट में गहरा भेद है। बौद्ध एक लम्बी और कलामय परम्परा के उत्तराधिकारी थे, इस कारण वे काश्मीर में भी अपने पुराने मॉडल ही प्रयोग में लाते रहे। केवल यहां उन्होंने ज्यादा बढ़िया सामग्री का प्रयोग किया और सजावट में अभूतपूर्व उन्नति कर ली। काश्मीर में उन्होंने श्रेष्ठ किस्म की ऐसी धवल चट्टान का पत्थर प्रयुक्त किया जो संगतराशी के बाद अत्यन्त चिकना निकलता था और जिस पर खुदाई का बहुत सुन्दर काम किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त

प्राचीन स्तूप के खंभों का निचला भाग समकोण चतुर्भुज की आकृति का होता था, जिस तक पहुंचने के लिए केवल एक सीढ़ी ऊपर चढ़ना पड़ता था। परन्तु काश्मीर के बौद्धों ने उसका आकार चौकोर कर दिया जिसकी हर दिशा में उससे भी अधिक बड़े ऑफसेट लगाये जो नीचे तक आँगन में प्रक्षेपित होते थे। उनकी हर दिशा में पार्श्ववर्ती दीवारें होती थीं जिनके पत्थरों पर मूर्तियां खुदी होती थीं। बड़ी इमारतों की चौकी दुहरे चबूतरे की होती थी। हर चबूतरा पांच विशाल पत्थरों की तर-ऊपर पंक्ति की ऊंचाई का होता था। सबसे निचली दो पंक्तियां और चौथी पंक्ति चौरस पत्थर की होती थीं और तीसरी पंक्ति के पत्थर तराश कर गोल कंगनी के आकार के होते थे और पांचवीं पंक्ति के पत्थर तराश कर जुड़ानुमा कंगनी के आकार के बनाये जाते थे।

इन बौद्ध स्तूपों के गुम्बदों के संबंध में अनुमान करना कठिन है कि उन पर कैसा काम होता था, क्योंकि किसी भी स्तूप का गुम्बद अवशेष नहीं रहा।

बौद्ध मठों के संबंध में तो और भी कम सामग्री उपलब्ध है। केवल एक ही मठ बाकी बचा है—परिहासपुर का राजविहार।

राजविहार की योजना चतुर्भुजी कोठरियों के रूप में है। विहार एक समकोण चतुष्भुज आँगन में स्थित है। कोठरियों के पहले एक खुला बरामदा था। एक दिशा के बीच में सीढ़ियां थीं। इस दिशा के मध्य की कोठरी ओसारे का काम देती थी। इस दिशा के पृष्ठभाग की कोठरियां मठाधीश के रहने का काम देती थीं। भीतर दीवारें संभवतः अनलकृत थीं। छत कदाचित् ढलवां थी और काश्मीर की वर्तमान छतों की तरह नुकीली या शिखर की आकृति की थी।

परिहासपुर में ही काश्मीर के एकमात्र बचे हुए बौद्ध चैत्य का ध्वंस भी मिलता है। चैत्य एक चौकोर कमरे का था। उसकी कुरसी भी चौकोर थी—स्तूप की ही तरह। सिर्फ़ उसमें कंगनीदार ऑफसेट और तीन सीढ़ियां नहीं थीं। यह चैत्य एक सादी दीवार से घिरा हुआ था। उसका द्वार चैत्य की सीढ़ियों की ओर था। सीढ़ियां एक ड्योढ़ी तक जाती थीं जहां उपासना-गृह का प्रवेश द्वार था। इस चौकोर उपासना-गृह के चारों ओर परिक्रमा देने के लिए एक गली थी। उपासना-गृह के चारों कोनों पर चार स्तंभ थे, जिन पर संभवतः परदे पड़े रहते होंगे, जिससे उपासना-गृह-जैसे पुण्य-स्थान पर पापियों की दृष्टि न पड़े। चूंकि इस गली की बाहरी दीवार भूमिसात् हो चुकी है, इसलिए यह कहना संभव नहीं है कि उसमें रोशनी और वायु के लिए वातायन अथवा द्वार थे या नहीं। संभवतः रहे होंगे।

ड्योढ़ी के ऊपर एक विशाल त्रिदल के आकार की मेहराब थी। इस मेहराब पर संभवत: एक तिकोना आच्छादन था। और चैत्य की छत उस समय के मंदिरों की छतों के ही समान पिरामिड के आकार की थी।

बौद्ध इमारतों की अपेक्षा काश्मीर में हिन्दू-शैली की इमारतों की संख्या कहीं ज्यादा है। इनमें सबसे प्राचीन इमारत मार्तण्ड का मंदिर है। हिन्दुओं का

हिन्दू इमारतें

यह सबसे बड़ा और सबसे सुन्दर मंदिर है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि काश्मीर का मध्यकालीन हिन्दू स्थापत्य प्रथम मंदिर में ही अपनी पूर्णता को पहुंच गया था। मार्तण्ड के पूर्व के मंदिर मिलते नहीं हैं, अत: इस बात का पता नहीं चलता कि उसके पूर्व के स्थापत्य के विकास-रूप क्या थे।

हम पहले ही कह चुके हैं कि गांधार की बौद्ध-कला का काश्मीर की बौद्ध-कला पर आत्यन्तिक प्रभाव पड़ा था। सामग्री के अतिरिक्त दोनों में कोई भेद नहीं था। परन्तु हिन्दुओं को यद्यपि बौद्धों के स्तूपों और संघारामों से कोई प्रयोजन नहीं था, तो भी उन्होंने अपने मंदिरों का निर्माण करते समय बौद्धों के अनुभव से पूरा लाभ उठाया। दो बातों में दोनों सम्प्रदायों की आवश्यकताएं एक-सी ही थीं। दोनों को मूर्ति-स्थापन के लिए एक कमरे की आवश्यकता थी—बुद्ध और बोधिसत्व की या विष्णु और दूसरे देवताओं की मूर्तियों के लिए। काश्मीर में हिन्दू-धर्म का प्रचार बौद्ध-धर्म के पश्चात् हुआ, इसलिए एक नये धर्म या सम्प्रदाय के लिए अपनी एकदम मौलिक स्थापत्य कला का आविर्भाव कर लेना उतना संभव नहीं जितना पूर्वकालीन धर्म के स्थापत्य का आधार लेकर अपना काम निकालना। वहां पर जहां नया धर्म विदेशी विजेताओं के द्वारा आता है, वहां कदाचित् ऐसा नहीं होता। ऐसी स्थिति में विजेता पराधीन लोगों पर अपना स्थापत्य लादने की चेष्टा करता है। काश्मीर में हिन्दू धर्म का सूत्रपात विजेताओं ने नहीं किया, परन्तु बौद्ध धर्म की ही तरह वह भी स्थानीय ही था। दोनों धर्मों के अनुयायी एक-दूसरे के साथ मिलकर मित्र-भाव से रहते थे, एक-दूसरे से धार्मिक विषयों में परामर्श लेते थे और दोनों की उपासना-विधि भी बहुत-कुछ एक-सी ही थी। इस कारण नये धर्म की पवित्र इमारतों के स्थापत्य पर पुराने धर्म की पवित्र इमारतों के स्थापत्य का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। काश्मीर में ऐसा स्वाभाविक विकास दो बार हो चुका है। एक बार जब धीरे-धीरे बौद्ध धर्म त्यागकर लोगों ने हिन्दू-धर्म अपना लिया और दूसरी बार जब शाहमीर के गद्दी पर बैठ जाने के बाद पहले धीरे-धीरे, फिर किंचित् तीव्रगति से काश्मीर के लोगों ने इस्लाम धर्म को अपना लिया।

पहले परिवर्तन के सम्बन्ध में फ़ोशर ने काश्मीर के मंदिरों, विशेषकर लोदव के मंदिर और गन्धार के नुकीली छतों के विहारों के बीच जो समानता बताई है, वह अत्यन्त शिक्षाप्रद है। लोदव का मंदिर अत्यन्त सादे ढंग का है। भीतर से उसकी योजना वृत्ताकार है, बाहर से चौकोर है। बनावट अत्यन्त सादी और नक्काशी आदि जैसी सजावट तो कतई नहीं है। उसमें केवल एक मेहराबदार द्वार है। मेहराब अर्धवृत्ताकार है। मंदिर की छत के जो थोड़े-से पत्थर बच गए हैं उनसे अनुमान किया जा सकता है कि छत सीधी खड़ी और ढलवां थी। इस मंदिर के पत्थर अपेक्षाकृत छोटे हैं। यह किंचित् आश्चर्य की बात है। क्योंकि पत्थर की जिस खान से अवन्तीपुर के मंदिर के विशाल प्रस्तर-खंड निकाले गए थे, वह खान लोदव के मंदिर से अत्यधिक निकट है। इससे केवल यही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह मंदिर उस युग का है जब तराश कर धवल चट्टान के खंडों का उपयोग करने की संभावनाएं काश्मीर के विश्वकर्माओं को ज्ञात ही हुई थीं, अर्थात् छठी या सातवीं शताब्दी के काल का।

जहाँ तक ज्ञात है पाँचवीं-छठी शताब्दी की इमारतों में पत्थर के टुकड़े, गोल कंकड़ और नदियों के तट की गोल बटियों का ही प्रयोग किया जाता था, जैसे उष्कर और हारवन में। आठवीं शताब्दी के मध्य तक (मार्तण्ड का मंदिर) काश्मीरियों को स्थापत्य के लिए धवल प्रस्तर-खंडों के प्रयोग का पूरा ज्ञान हो गया था।

यह अनुमान कि लोदव का मंदिर छठी-सातवीं शताब्दी का ही है, इस बात से और पक्का हो जाता है कि स्वात की घाटी के गुनियार विहार से लोदव का मंदिर एकदम मिलता है। दोनों में नाममात्र का ही भेद है। वह भी भीतर की कोठरी और बाहर की कार्निस की बनावट में। परन्तु दोनों की योजना एक-सी ही है और गुनियार का विहार किसी भी दशा में पाँचवीं शताब्दी से पहले का नहीं है। इस कारण लोदव का मंदिर या तो गुनियार के विहार का समकालीन है या एक-डेढ़ शताब्दी बाद का।

शंकराचार्य के मंदिर के सम्बन्ध में काफी बहस रही है। यह मंदिर श्रीनगर के उत्तर में गोपादरी या तख्ते सुलेमान की पहाड़ी पर स्थित है। जनरल कनिंघम ने स्थानीय परम्परा को सच मानकर लिखा कि यह मन्दिर अशोक के पुत्र जालौक ने बनवाया था, लगभग सन् २२० ई० पूर्व में। प्रो० बूहलर इस परम्परा को गलत बताते हैं। परन्तु मन्दिर किस समय बना, इस बारे में उन्होंने कोई निश्चित मत प्रकट नहीं किया। प्रसिद्ध विद्वान फरगुसन ने मन्दिर की शैली का तुलनात्मक

अध्ययन करके कनिंघम के मत का खंडन किया है। उनके अनुसार यह मंदिर किसी हिन्दू ने जहाँगीर के राज्यकाल में बनवाना शुरू किया था। सन् १६५८ ई० में जब जहाँगीर की मृत्यु हुई और औरंगज़ेब गद्दी पर बैठा तो मंदिर का बनवाना रुक गया। अन्त में सम्भव है कि सन् १८७० के लगभग इस मन्दिर का निर्माण समाप्त हुआ।

सर ऑरेल स्टीन इस सीमा तक तो फरगुसन से सहमत हैं कि मन्दिर के भीतर की गोलाकार कोठरी, जिसमें एक आधुनिक शिवलिंग स्थापित है, अवश्य ही मुस्लिमकाल की बनी हुई है परन्तु उसकी शानदार बहुभुजी चौकी जो विशाल प्रस्तर-खंडों की है और जिसमें किसी प्रकार का गारा प्रयुक्त नहीं हुआ है, वह अवश्य काफ़ी पहले की है। उनके अनुसार मन्दिर का निर्माण चाहे जब हुआ हो, यह सम्भव है कि ज्येष्ठरुद्र की उपासना से उसका सम्बन्ध है।

रायबहादुर दयाराम साहनी का मत है कि "इस वर्ग की अन्य इमारतें जिस काल की हैं, उसी मध्यकाल का बना यह मंदिर भी है।" साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि इस मंदिर की बाह्य दीवारें जालीदार स्तंभ-पंक्ति के शैलीगत ह्रास की द्योतक हैं। इससे कदाचित् उनका तात्पर्य यह है कि स्तंभ-पंक्ति अत्यन्त छोटे आकार की है। इससे वे यह परिणाम निकालना चाहते हैं कि मध्यकाल की इमारतों में शंकराचार्य का मंदिर सबसे बाद का है। परन्तु जिस स्थान पर मंदिर बना है, वहां स्थान अत्यन्त संकुचित है, और संभव है कि स्तंभ-पंक्ति स्थान की न्यूनता के कारण ही छोटी हो। इसके अतिरिक्त स्तंभ-पंक्ति का होना अनिवार्य नहीं था। ललितादित्य के बनवाये मार्तण्ड के मंदिर की स्तंभ-पंक्ति सबसे विशाल है, परन्तु बागनाथ में स्थित भूतेश के मंदिर में स्तंभ-पंक्ति है ही नहीं। लोदव के मंदिर से शंकराचार्य का मंदिर शैली में समानता रखता है, केवल दो-एक बातों में शंकराचार्य की शैली उन्नत कला की सूचक है। रामचन्द्र काक के अनुसार "यद्यपि शंकराचार्य का मंदिर लोदव के मंदिर से बाद में निर्मित हुआ था, परन्तु वह मार्तण्ड के मंदिर से एक शताब्दी से कम अधिक पुराना नहीं है, अर्थात् अनुमानतः शंकराचार्य के मंदिर का निर्माण सन् ७०० ई० के लगभग हुआ होगा।"

ललितादित्य स्थापत्य-कला का महान् पोषक था। उसने केवल डिज़ाइन और अलंकार की नई रूप-योजनाएं ही नहीं विकसित कीं, वरन् पुरानी शैलियों के भावों को पुनः व्यवस्था देकर उनमें उसने एक नई अभिव्यंजना उत्पन्न कर दी। यह नई योजना इतनी कलापूर्ण और भावमय थी कि उसके पश्चात् जितने मंदिर बने उन्होंने इसी योजना को अपनाने की कोशिश की। लोदव में ललितादित्य ने

बौद्ध-विहार की योजना को अपनाया, ऑफसेट का प्रयोग करके शंकराचार्य के मंदिर में उस शैली को और सुन्दर बना दिया और नरस्तान में उसने इन ऑफसेट को त्रिदल आकार का वैभव प्रदान कर और सुन्दर बना दिया और मार्तण्ड के मंदिर में उसने चतुर्भुजी कोष्ठ जोड़कर भवन-निर्माण-कला को उसकी चरम-सीमा तक पहुंचा दिया।

चतुर्भुजी कोष्ठों का विकास बिना किसी पूर्व आधार के नहीं हुआ। प्राचीन काल से ही बौद्ध मठों के आंगन की ओर मुख करके चतुर्भुजी कोष्ठों के निर्माण की प्रथा चली आती थी, और आंगन में एक छोटा-सा निज-गृह होता था। यदि निज-गृह बड़ा और आँगन के मध्य में होता था तो उसकी बनावट मार्तण्ड या अवन्तीस्वामी के मंदिरों जैसी ही होती थी। मार्तण्ड का मंदिर परिहासपुर के बौद्ध-मठ के काल का ही है। हिन्दू-मंदिरों में भीतर की कोठरी छोटी ही होती थी क्योंकि वह रहने के लिए नहीं, मूर्त्ति-स्थापन के लिए ही ज़रूरी होती थी। इसके अतिरिक्त मंदिरों में कोठरियों के सामने विहारार्थ भ्रमण करने का स्थान भी संकुचित होता था। बौद्ध-मठों में सीढ़ियां सादी और अनलंकृत होती थीं, परन्तु हिन्दू मंदिरों में प्रवेश करने के लिए दो कोठरियां पार करना पड़ती थीं। ये कोठरियां मंदिर के ही समान विशाल होती थीं। इन साधारण भेदों के अतिरिक्त काश्मीरी स्थापत्य की बौद्ध और हिन्दू शैलियों में और कोई मौलिक अन्तर नहीं था। दोनों की योजना एक ही समान थी, अर्थात् एक आश्रम या मठ के आंगन में स्थित चैत्य की रूपरेखा की झलक दोनों में समान रूप से मिलती थी।

आगे चलकर हिन्दू-स्थापत्य का ह्रास होने लगा। प्रारंभिक उत्साह के ढीले पड़ जाने पर बाद के हिन्दू मंदिरों में वह प्रभावोत्पादक विराट्ता नहीं रही।

रामचन्द्र काक के अनुसार बाद की हिन्दू इमारतों में त्रि-दल के आकार की मेहराबों और विभिन्न स्तंभों का मूल-उद्देश्य लुप्त हो गया और वे अब केवल इमारत की अलंकार-योजना के अंग बन गए। धीरे-धीरे मंदिरों का आकार छोटा होता गया, यहां तक कि कुछ शताब्दियों में वे दो फुट लम्बाई और दो फुट चौड़ाई के संक्षिप्त आकार के ही रह गए। पेयर, बुयाज़ू के गुफ़ा मंदिर और पटन के चश्मे के निकट का छोटा-सा मंदिर इस ह्रास के सूचक हैं।

यह उल्लेखनीय है कि काश्मीर के मध्यकालीन हिन्दू-स्थापत्य में त्रिदल आकार की मेहराब और स्तंभ-पंक्ति नहीं मिलती।

काश्मीर के मध्यकालीन स्थापत्य में निम्न विशेषताओं के द्वारा प्रभाव उत्पन्न किया जाता था—(१) रचना की सरलता और एकता के द्वारा, (२) स्फटिक

और धवल प्रस्तर-खंडों की विशालता के द्वारा, (३) श्रेष्ठ संगतराशी द्वारा और (४) मंदिरों की अत्यन्त सुन्दर और रमणीक प्राकृतिक स्थानों पर अवस्थिति द्वारा। इस स्थापत्य की यह भी विशेषता है कि इसमें मेहराव और स्तंभ का संयोग अत्यन्त भव्य और आकर्षक है।

मध्यकालीन स्थापत्य के मंदिरों की रचना की सरलता और एकता का प्रमाण यह है कि इन इमारतों की योजना सम्पूर्ण रूप से एक बार ही की जाती थी, जिससे बाद में उनमें कुछ जोड़ा नहीं जा सकता। भारतीय मंदिरों की अपेक्षा काश्मीरी मंदिरों की योजना अधिक सुसम्बद्ध होती थी।

वागनाथ और बुनियर के मंदिरों को छोड़कर काश्मीर के अन्य सारे मंदिर धवल प्रस्तर-खंडों के बने हैं। केवल वागनाथ और बुनियर के मंदिर स्फटिक से निर्मित किये गए हैं। लोदव, ज़ेवन और अजस की खानों से धवल प्रस्तर-खंड किसी भी परिमाण में निकाले जा सकते थे। मंदिरों में प्रयुक्त प्रस्तर-खंड अक्सर विशाल आकार के होते थे। कुछ दस फुट या इससे भी अधिक लम्बाई के होते थे। उदाहरण के लिए परिहासपुर के चैत्य का फ़र्श एक ही प्रस्तर-खंड से बना है जो १४ फुट लम्बा, १२ फुट चौड़ा और ६ फुट मोटा है। निश्चित स्थान पर जमाने के पूर्व इन प्रस्तर-खंडों को साधारण रूप से ही तराशा जाता था। एक बार जमा लेने के बाद ही तराश करके मूर्तियां और अन्य अलंकार-योजनाएं बनाई जाती थीं।

ब्राह्मणों की प्रारंभकालीन विश्वदेवतावादी प्रवृत्ति के कारण बौद्ध और हिन्दू सर्वदा से प्रकृति के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु रहे हैं। इस कारण ऐलोरा के मैदानों का निस्सीम विस्तार या काश्मीर में अमरनाथ के हिम-नदों और चिरस्थायी बरफ़ का अनियमित वैभव या मार्तण्ड के सूर्यास्त का शानदार दृश्य—ये प्राकृतिक दृश्य न केवल अपने आत्यन्तिक सौन्दर्य के कारण आकर्षक थे, वरन् उनके लिए एक विशिष्ट धार्मिक महत्व भी रखते थे। इसी कारण उन्होंने अपने मंदिरों के लिए सबसे सुन्दर प्राकृतिक स्थल चुने थे।

मुसलमानों ने काश्मीर में हिन्दुओं से लड़कर राजसत्ता नहीं छीनी। यह एक घरेलू परिवर्तन था। १२वीं और १३वीं शताब्दी के मुस्लिम अभियानों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। यह एक राजकीय परिवर्तन था, धार्मिक नहीं। रिंचन, जो पहला अ-हिन्दू शासक था, एक तिब्बती था और घटनावश ही मुसलमान हो गया था। शाहमीर ने गद्दी पर क़ब्ज़ा कर लिया था, विजय नहीं की थी। वह

मुस्लिम इमारतें—१४ वीं शताब्दी से

और उसके वंशज अपनी सत्ता कायम रखने के लिए हिन्दू सरदारों पर निर्भर करते थे। इसलिए काश्मीर में यदि अरबी शैली की गुम्बददार मसजिदें नहीं हैं तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। प्रारम्भ में यहां मुसलमानों की संख्या इतनी नहीं थी कि वे अपनी निजी स्थापत्य-कला का सूत्रपात कर पाते। उन्होंने पुराने ध्वस्त हिन्दू मंदिरों की सामग्री से अपनी मसजिदें बनाईं।

हरी पर्वत क़िले के बाहर संगीन दरवाजे के निकट मदीन साहब की जो मसजिद है, वह इस शैली का उदाहरण है। दूसरी ऐसी मसजिद वित्सरनाग में सड़क के किनारे है, भग्नावस्था में। वूलर झील में ज़ैनुलाब्दीन की मसजिद भी इसी शैली की है। परन्तु इसी काल की एक और इमारत काश्मीर की अन्य सभी इमारतों से भिन्न प्रकार की है—ज़ैनुलाब्दीन की मां का मकबरा। उसकी चौकी किसी बौद्ध-मठ या हिन्दू मंदिर की है। मुसलमान शिल्पी ने उसे नहीं बदला है, और अपने हिन्दू पूर्वजों के पदचिन्हों पर ही चलने का प्रयत्न किया है।

ज़ैनुलाब्दीन की माँ का मकबरा, मदीन साहब की मसजिद और वूलर झील का मकबरा, ये तीनों ईंट के बने हुए हैं और उनकी विशेषता यह है कि उन पर सजावट के लिए चमकाए हुए टाइल लगाये गए थे।

काश्मीर की आधुनिक मसजिदों और मक़बरों की शैली और बनावट में इतनी समानता है कि अलग-अलग करके उनकी विशिष्टताओं का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। मकबरों की चौकोर योजना है। मसजिदें या तो मकबरों की तरह चौकोर हैं, जैसे मदनी, शाह हमदान और पाम्पुर की जामा मसजिद आदि—या चौकोर योजना की अनेक इमारतों का समूह होती हैं जो स्तम्भ-पंक्ति द्वारा परस्पर संबद्ध होती हैं, जैसे श्रीनगर की जामा मसजिद।

इन इमारतों की दीवारें या तो ईंट-चूने की हैं या लकड़ी की शहतीरों से बनाई गई हैं।

बड़े कमरों में छत को थामने के लिए आधुनिक प्रकार के स्तंभों का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं ये स्तंभ खुदाई के काम से खूब अलंकृत किये गए हैं। पुराने विश्वकर्मा कदाचित् यह नहीं जानते थे कि थोक लगाने के लिए शहतीरों का प्रयोग किया जा सकता है। शहतीरों का प्रयोग अब पुरानी मसजिदों को पुनः सुधारते समय किया जाने लगा है। पहले धरन से थोक लगाने के लिए लकड़ी के टुकड़े पट-बल से एक-दूसरे पर चिन दिये जाते थे और तख्ते बिछाकर भोज-पत्र की छाल के ऊपर दूर्वायुक्त मिट्टी बिछाकर छत डाली जाती थी। छत पर साधारणतया एक मीनार होती है जिसके सिरे पर धातु से मढ़ा हुआ एक खुला छत्र बना

होता है। श्रीनगर की जामा मसजिद पर जो औरंगज़ेब के समय में निर्मित हुई थी, सबसे पुराना छत्र है।

इन मीनारों की एक विशेषता यह है कि उनका ढलवां शिखर बाहर की ओर को प्रक्षेपित होता है। खिड़कियां, वातायन और जंगले लकड़ी के टुकड़े संयोजित कर इस प्रकार बनाये जाते हैं कि अनेक प्रकार के सुन्दर रेखागणित की रीति के आकार बनते हैं। मसजिद-मकबरों में लकड़ी के काम के अत्यन्त सुन्दर नमूने देखने को मिलते हैं, विशेषकर श्रीनगर में शाह हमदान की मसजिद और पाम्पुर में अमीर की मसजिद में लकड़ी की खुदाई का श्रेष्ठतर काम किया गया है। शाह हमदान की मसजिद का आन्तरिक भाग सम्पूर्ण रूप से रेखागणित की रीति के आकार की लकड़ियों से आच्छादित है। इन लकड़ियों पर अत्यन्त सुन्दर खुदाई का काम किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि खुदाई की हुई सजावट की रूप-योजना अरबी ढंग की है। पुरानी इमारतों में आकार रूढ़ ढंग के हैं, परन्तु बाद में आगरे के ताज के-से प्राकृतिक रूप के फूल आदि खुदने लगे।

मुग़ल शैली की जो इमारतें काश्मीर में हैं, उनके संबंध में अधिक कहना अनावश्यक है, क्योंकि पाठक इस शैली की श्रेष्ठतम इमारतें आगरा, दिल्ली और लाहौर में देख चुके होंगे। पथर मसजिद, अखुन मुल्ला शाह की मसजिद और शालीमार बाग़ की विशाल बारादरी मुग़ल शैली की श्रेष्ठ इमारतें हैं।

मुगलों ने श्रीनगर और काश्मीर की घाटी में अनेक स्थानों पर अत्यन्त सुन्दर बाग़ बनवाये थे जो उनके स्थापत्य-प्रेम का भी परिचय देते हैं। इन बाग़ों की शैली वैसी ही है जैसे लाहौर के शालामार बाग़ या दिल्ली के मुग़ल बागों की है। परन्तु भारत में अन्यत्र कहीं मुग़ल बाग़ों का इतना बड़ा समूह एक ही स्थान पर नहीं है जितना श्रीनगर में।

इसमें संदेह नहीं कि काश्मीर के स्थापत्य की परम्परा गौरवशाली है। साधारण घरों की बनावट चित्रवत् सुन्दर होती है। काश्मीर का स्थापत्य अपने निसर्ग सौन्दर्य के अतिरिक्त काश्मीरी लोगों की युगीन साम्प्रदायिक सहिष्णुता का भी द्योतन करता है।

काश्मीरी स्थापत्य-कला की दृष्टि से श्रीनगर और उसके पड़ोस में निम्न इमारतें दर्शनीय हैं—शंकराचार्य का मंदिर, पत्थर मसजिद, शाह हमदान की मसजिद, ज़ैनुलाब्दीन की मां का मकबरा, हरी-पर्वत का क़िला, मदीन साहब की मसजिद, वित्सरनाग का मंदिर, चश्माशाही, परी महल, निशात बाग़, शालीमार बाग़ और हारवन के ध्वंस।

श्रीनगर से ऊपर (उत्तर-पूरब की दिशा में) पान्द्रैठन, अवन्तीपुर, लोदव, पायर, नरस्तान और मार्तण्ड के मंदिर, अच्छवल और वेरीनाग के बाग़ और कोटेर, मामल और वम्ज़् के स्थान दर्शनीय हैं।

श्रीनगर से नीचे परिहासपुर, पटन, उष्कर, फतगढ़, नरानथल, वुनियार, वंडी, मानसवल और वागनाथ आदि के स्थान काश्मीरी स्थापत्य का परिचय पाने के लिए दर्शनीय हैं।

सात

काश्मीरी कलाएँ और दस्तकारियाँ

काश्मीर अपनी कलाओं और दस्तकारियों के लिए प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहा है। काश्मीरी शॉल, रेशम, कालीन, गब्बे चाँदी और ताँबे के नक्काशी किये हुए बर्तन और सजावट की चीज़ें, लकड़ी और पेपियर-मेशी की सजावट की अनुपम वस्तुएँ, क़सीदे का काम, मिट्टी के बर्तन आदि चीज़ें काश्मीरी दस्तकारों के विलक्षण नैपुण्य और अद्भुत् कौशल का परिचय देती हैं। इतनी सूक्ष्म कला, रंगों का इतना भावमय और आकर्षक आयोजन, अंकित डिज़ाइनों का इतना सुन्दर विन्यास अन्यत्र दुर्लभ है। आवश्यकता और सजावट की हर वस्तु काश्मीर के दस्तकार तैयार करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी ग़रीबी, अशिक्षा और जीवन के अपार अभिशापों के बावजूद काश्मीरी एक अत्यन्त कला-प्रिय जाति के लोग हैं। हर छोटी-से-छोटी और साधारण-से-साधारण वस्तु उनका हाथ लग जाने से कलापूर्ण कृति बन जाती है।

काश्मीरियों ने यह कला-कौशल निश्चय ही एक-दो शताब्दियों में नहीं सीखा है, संभवतः प्राचीन काल से ही वे इन कलाओं और दस्तकारियों का विकास करते आये हैं। बीच-बीच में अनेक बार कभी कोई और कभी कोई दस्कारी नष्ट भी हो गई है, परन्तु पुनः थोड़ा-सा भी अनुकूल वातावरण पाते ही पनपने लगी है। इन कलाओं और दस्तकारियों की विशिष्टताओं और ऐतिहासिक प्रगतियों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

एक कहावत के अनुसार काश्मीर अपने शॉल, शाली (धान) और शलगम के लिए प्रारंभ से ही प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में शॉल बनाने का उद्योग किस समय शुरू हुआ इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण हमें नहीं मिलता

शॉल

है। काश्मीरी लेखक महाभारत की उस कथा के आधार पर

जिसमें धृतराष्ट्र ने पाण्डवों के प्रतिनिधि श्रीकृष्ण को पर्वतीय देश के बने १८००० 'अविकाम' (शाल) भेंट में दिये थे, यह सिद्ध करते हैं कि 'पर्वतीय देश' से व्यासजी का तात्पर्य 'काश्मीर' से है। यह भी कहा जाता है कि रोम के सम्राटों के अन्तःपुर की रानियां ढाके की मलमल और काश्मीर के शाल प्रयोग में लाती थीं। फिर भी प्राचीन काल में काश्मीरी शाल के उद्योग की क्या स्थिति थी, इसके निश्चित प्रमाण अभी तक अप्राप्य हैं। परन्तु मध्यकाल के संबंध में ऐसी अनिश्चितता नहीं है।

कहा जाता है कि सन् १३७८ ई० में मीर सईद अली हमदान (शाह हमदान) फ़ारस से दुबारा काश्मीर आये। उस समय शाल का उद्योग मिटने की अवस्था में था। उन्होंने आकर इस उद्योग को पुनः जीवित करने की चेष्टा की। तत्कालीन सुल्तान कुतुबुद्दीन ने इसमें उनकी सहायता की। इसके १६२ वर्ष बाद खोकन्द (मध्य एशिया) से एक व्यक्ति नग्ज़बेग काशगर के मिर्ज़ा हैदर के साथ बावर्ची बनकर आया। उसने यहाँ कहीं से पशमीने का डेढ़ गज़ का टुकड़ा लेकर अपने मालिक को भेंट के रूप में दिया। मिर्ज़ा हैदर ने पूछा कि यह क्या है। नग्ज़बेग ने उत्तर दिया—'शाल' है। खोकन्द के लोग अपनी भाषा में कम्बल को 'शाल' कहते हैं। मिर्ज़ा हैदर ने पूछा कि यह 'यक (एकहरा) शाल' है या 'दु (दुहरा) शाल' है। उत्तर मिला 'दुशाल' है। उस समय से पश्मीने की चादर को 'शाल' के नाम से पुकारा जाने लगा। एक दिन नग्ज़बेग ने पशमीना बुनने वाले एक दस्तकार को उसकी ग़लती पर थप्पड़ मार दिया। उसकी नाक फट गई और रक्त के छींटे श्वेत पशमीने पर यत्र-तत्र गिर पड़े। नग्ज़बेग ने देखा कि लाल धब्बों से पशमीना अधिक सुन्दर लगने लगा है। तदनन्तर उसने पशमीने के धागे को लाल और हरे रंगों से रंग कर कपड़ा बनवाया। श्रीनगर के उत्तर-भाग में ज़ादीबल के पास बबरीबाग़ में नग्ज़बेग का मक़बरा बना हुआ है।

सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन ने शॉल के उद्योग को विशेष प्रोत्साहन दिया। उसने अन्य देशों के सुलतानों और अमीरों को भेंट में काश्मीरी शॉल भेजे, जिससे उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। मुग़ल बादशाहों के समय में इस उद्योग को राज्य की ओर से संरक्षण दिया गया। उस समय एक अन्दिजानी दस्तकार ने बाबर के लिए पशमीने का एक गलूबन्द बुनकर दिया जिसमें उसने मुग़ल सम्राट् की पगड़ी पर लगे पंखों के 'जिघा' का चिन्ह बुन दिया था। उस समय से काश्मीरी शॉल और ग़लूबन्दों पर 'जिघा' का चिन्ह बुना जाने लगा।

काश्मीर में दो प्रकार से शॉल बुने जाते हैं। एक तो ऐसे शॉल जिनमें

चिन्ह बुनाई में ही डाले जाते हैं। इन्हें 'कानी शॉल' कहते हैं। दूसरे ऐसे शॉल जिन पर चिन्ह कढ़ाई करके डाले जाते हैं। इन्हें 'अमली शॉल' कहते हैं। नग़ज़बेग ने 'कानी शॉल' की कला का विकास किया था। लेकिन 'अमली शॉल' की कला का विकास अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किसी सैयद बाबा उर्फ़ अलबाबा ने किया। अलबाबा सोकालीपुर (श्रीनगर) मुहल्ले में रहता था। एक दिन उसने एक मुर्ग़ को कपड़े की सफ़ेद चादर पर चलते देखा। मुर्ग़ के पंजों की छाप कपड़े पर पड़ गई थी। अलबाबा ने सोचा कि यदि इन चिन्हों की रेखाओं पर रंगीन डोरों से कढ़ाई कर दी जाय तो संभव है, सुन्दर लगे। अपने प्रयत्न में सफलता पाने पर उसने अनेक नये प्रकार के डिज़ाइन तैयार किये। अलबाबा का मक़बरा आज भी राजवेर क़दल के पास बना हुआ है।

बाद में शॉल के रूप-रंग में और भी उन्नति हुई। उसमें हाशिया जोड़ दिया गया और सन् १८६४ ई० में मुस्तफ़ा पंडित और अज़ीज़ पंडित ने 'दुरुखा' शॉल की ईजाद की। उन्होंने 'ज़मीन पस्त गुलबाला' शॉल की ईजाद भी की। 'हाशिया' इकहरा, दुहरा या तिहरा भी होता है। 'दौर' एक अलंकार चिन्ह होता है जो एक-सूत्र में हाशिये के बीच में चारों ओर काढ़ा जाता है। दोनों किनारों पर कढ़ा हुआ पल्ला रहता है। कोनों पर जो फूलों का गुच्छा बनाया जाता है उसे 'कुंज' कहते हैं, और बीच के अनकढ़े समतल भाग को 'मटन' पुकारते हैं। शॉल की बुनाई और कढ़ाई के अनेक डिज़ाइन प्रयोग में आते हैं।

मुग़लों के समय में 'शॉल' का उद्योग अपने विकास की चरम-सीमा को पहुंच गया था। डेढ़ गज़ का चौकोर शॉल अंगूठी में से निकल जाता था। अबुल-फ़ज़ल ने आईने-अकबरी और बर्नियर ने अपने विवरण में काश्मीरी शॉल की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। बर्नियर का कहना है कि उस समय यहां अपार संख्या में शॉल बनाये जाते थे। सन् १७३६ ई० में नादिरशाह ने कुस्तुन्तुनिया में अपना राजदूत भेजा। उसके साथ भेंट की अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ काश्मीरी शॉल भी भेजे जिनको वहां के सुल्तान ने अपने दरबार में उपस्थित राजदूतों की पत्नियों में बाँट दिया।

अफ़ग़ान शासकों के समय में भी शॉल का उद्योग उन्नति करता रहा और ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, तुर्किस्तान और रूस में काश्मीरी शॉल की मांग बढ़ गई। सन् १७६६ ई० के लगभग बग़दाद का एक यात्री सईद यहिया काश्मीर से एक शॉल लेकर लौटा और उसने वह शॉल मिस्र के खदिवे को भेंट कर दिया। खदिवे ने वह शॉल नेपोलियन को दिया। नेपोलियन ने उसे अपनी महारानी जोसेफ़िन

को दिया। उस समय से पेरिस और फ्रान्स और योरप की अन्य राजधानियों में उच्चवर्ग की स्त्रियों के बीच काश्मीरी शॉल ओढ़ने का फ़ैशन प्रचलित हो गया और काश्मीर का शॉल का व्यवसाय अप्रत्याशित रूप से उन्नति कर गया। उस समय लगभग ५० लाख रुपये के शॉल बाहर भेजे जाते थे और राज्य को इस उद्योग से लगभग ४ लाख रुपये की वार्षिक आय होती थी।

सिखों के राज्य-काल में यह उद्योग समाप्त होने लगा क्योंकि सिख शासकों ने शॉल बुनने वालों पर भीषण कर लगा दिये। डोगरा शासन में भी इस स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ, बल्कि एक लम्बे काल तक यह उद्योग ह्रास करता आया। भारत के स्वदेशी आन्दोलन के कारण काश्मीरी शॉल और ऊनी कपड़े को किंचित् प्रोत्साहन अवश्य मिला, परन्तु मुग़ल और अफ़ग़ान-काल की-सी समृद्धि नहीं लौटी।

काश्मीरी शॉल 'कल' (शॉल की ऊन वाली बकरी) की 'पश्म' या 'कलिफुम्ब' का बुना जाता है। 'कल' तिब्बत की उच्च पर्वतीय समतल-भूमियों पर मिलती है। तिब्बती इस बकरी को 'राम' और बकरे को 'रावो' कहते हैं, पश्म को 'ल्सोकुल' और श्वेत पश्म को 'लेना कर्पो' और भूरे रंग की पश्म को 'लेना नक्पो' पुकारते हैं। ऊपर के लम्बे बालों के नीचे छिपे अत्यन्त कोमल और छोटे रोमों को पश्म कहते हैं। सबसे अच्छा पश्म चंगथांग और तुरफ़ान के इलाकों से आता है। काश्मीरी औरतें बड़ी सावधानी से अन्य बालों को बीनकर पश्म साफ़ करती हैं, फिर उसका सूत कातती हैं। तब सूत को रंगा जाता है।

'कानी शॉल' में पैटर्न खड्डी पर ही बुने जाते हैं। इन पैटर्नों को महीन सुई के काम से आपस में जोड़ दिया जाता है। 'अमलीकार शॉल' में पश्मीने का कपड़ा लेकर नक्काश द्वारा तैयार किये गए डिज़ाइन के अनुसार उस पर कढ़ाई की जाती है। पश्म की ऊन से बने हुए कपड़े को पश्मीना कहते हैं।

सुलतान ज़ैनुलाब्दीन ने चौदहवीं शताब्दी में कालीन का उद्योग काश्मीर में शुरू करवाया। उसने समरकन्द से कालीन बुननेवाले बुलवाये। सुल्तान ज़ैनु-

क़ालीन

लाब्दीन स्वयं एक कला-प्रेमी व्यक्ति था और काश्मीर की कलाओं और दस्तकारियों के विकास में जितनी अभिरुचि उसने दिखाई उतनी अन्य किसी व्यक्ति ने आज तक नहीं दिखाई। इस-लिए उसने क़ालीन बुनने वाले ही नहीं, बल्कि जिल्दसाज़, बन्दूक बनाने वाले, संगतराश, कागज बनाने वाले, पेपियर-मेशी का काम करने वाले, ज़ीनसाज, संगी-

तश, आतिशबाज़, आदि अनेक प्रकार के दस्तकार और कलाकार समरकन्द से बुलाये थे।

सुलतान जैनुलाब्दीन के बाद लगभग दो-तीन वर्षों तक क़ालीन बनाने का उद्योग पूर्ववत् चलता रहा, परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में क़ालीन बनाने की कला का न केवल ह्रास हो गया, बल्कि काश्मीर में उसका कोई जानकार भी शेष नहीं रह गया। इसके बाद जहांगीर के राज्यकाल में एक काश्मीरी अखुन रहनुमा मध्य एशिया के मार्ग से हज करने के लिए गया। लौटते समय फ़ारस के अदिन्जान नगर में उसने क़ालीन बनाना सीखा और काश्मीर आकर पुनः इस उद्योग को चालू किया। अखुन रहनुमा का मकबरा श्रीनगर के गोजवार मोहल्ले में स्थित है।

यों तो फ़ारस के क़ालीन प्राचीन काल से ही दुनिया में प्रसिद्ध हैं, परन्तु काश्मीर के क़ालीन भी कम श्रेष्ठ नहीं होते। प्रारंभ में काश्मीरी क़ालीन बेल-बूटेदार होते थे जिन पर मस्जिदों, बागीचों, जंगली जानवरों, उछलती हुई मछलियों आदि के डिज़ाइन बुने होते थे, और इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृतिक दृश्यों को क़ालीन पर अंकित करने में काश्मीरी दस्तकारों ने चरम पूर्णता प्राप्त कर ली थी। परन्तु बाद में क़ालीनों को सस्ता बनाने के लिए साधारण प्रकार के रंग और सामग्री का प्रयोग होने लगा। अंत में डोगरा काल में कतिपय अंग्रेजों ने आकर इस उद्योग को अपने हाथ में ले लिया और उन्होने पुराने काश्मीरी डिज़ाइनों की जगह नये मिले-जुले अंग्रेज़ी डिज़ाइन प्रयुक्त किये और इस प्रकार काश्मीरी क़ालीन का वह निसर्ग सौन्दर्य और मौलिक कलामय प्रकृति-अंकन नष्ट हो गया। बाद में प्राचीन कलात्मकता लाने के प्रयत्न केवल इसी हद तक सीमित रह गए कि ईरान और दूसरी जगहों के क़ालीनों के प्रकाशित डिज़ाइनों की काश्मीर में नकल होने लगी।

पेपियर-मेशी की कला का काश्मीर में सूत्रपात सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन ने ही कराया था। यह अब एक प्रकार से काश्मीर की अपनी विशिष्ट दस्तकारी है।

पेपियर-मेशी

पेपियर-मेशी की चीज़ें तैयार करने की कला अत्यन्त कठिन और यत्न-साध्य है। सांचों के ऊपर काश्मीरी कागज की अनेक तहें जमाने के बाद चावल की मांड़ में तैयार की हुई कागज की गूड़ी की उस पर तहें जमाई जाती हैं और जब आवश्यक आकृति बन जाती है तब उसकी सतह को घिसकर और छीलकर बराबर और चिकना किया जाता है। फिर महीन कपड़े से लपेटकर उसे गुच से ढंक दिया जाता है। फिर जली हुई काश्मीरी ईंट से, जिसे 'कुरकुत' कहते हैं, घिसकर उसे चिकनाया जाता है। मानसबल की खान से निकलने वाले पत्थर को जिसे 'वसवतर' कहते हैं, पानी के साथ उस पर घिसकर

'पलस्तर' किया जाता है। इसके ऊपर पानी और सरेस के साथ 'काश्मीरी सफेदा' चढ़ाया जाता है। तब उस पर जमीन का रंग चढ़ाया जाता है। जमीन का रंग सुनहला, आसमानी, धानी आदि कई प्रकार का हो सकता है। सूखने के बाद उस पर 'ज़र्दा' से डिजायनों की रेखाएँ खींच दी जाती हैं। तब विभिन्न रंगों में उस पर बेल-बूटे बनाये जाते हैं। प्रारंभ में कलाकार लाल या किसी अन्य रंग से 'रख़' या 'परताज़' बनाता है। यदि सोना या चांदी का काम करना होता है तो वह पहले उन स्थानों पर, जहां सोना या चांदी का काम दिखाना है, गोंद और शकर में ज़र्दा मिलाकर बनाया हुआ 'डोर' उस पर लेप करता है और फिर सोना या चांदी का वरक़ उस पर चिपका देता है। यह वरक़ उन्हीं स्थानों पर चिपक जाते हैं जहां पर 'डोर' लगा होता है। इस प्रारंभिक क्रिया के बाद अलसी के तेल में कहरुवा (अम्बर) या 'सन्दीरस' (राल) को मिलाकर उस पर वार्निश कर दी जाती है और धूप में सूखने को रख दिया जाता है। सूखने के बाद घास की गीली रस्सी से उसको मल और धोकर साफ कर दिया जाता है। इसके पश्चात् सरेस और नमक के पानी में सोना या चांदी के वरक़ घुला लिये जाते हैं और उससे आगे की नक्काशी की जाती है। फिर खुतान से लाये गए यश्म (जेड नाम का पत्थर) से घिसकर उसपर पालिश की जाती है और अन्त में पुनः उस पर वार्निश करके उसे सुखा लिया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि ये सारी क्रियाएं अत्यन्त सूक्ष्म टेकनीकल निपुणता की अपेक्षा रखती हैं, और यह एक विलक्षण बात है कि काश्मीरी कलाकार अपनी स्मृति से ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म नक्काशी पेपियर-मेशी की चीजों पर करते हैं। अधिकतर शिया सम्प्रदाय के मुसलमान ही इस उद्योग में लगे हुए हैं। पेपियर मेशी की कला को अपनी चरम सीमा तक ले जाने वाले कलाकारों में पंडित नारान मुर्तसागर और सईद तुराब के नाम स्मरणीय हैं।

लगभग १५० या २०० के लगभग कलाकार इस उद्योग में लगे हुए हैं। क़ाबुल, फ्रान्स और योरप के अन्य देशों में पेपियर-मेशी की वस्तुएं किसी समय काश्मीर से जाती थीं। मसनदी और फ़र्शी किस्म के क़लमदान, छोटे-छोटे बक्स, सुराहियां, तस्वीरों के फ्रेम, चारपाइयों के पाये, मेज़ें, तिपाइयां, ट्रे, शमादान, टेबिल-लैम्प आदि अनेक प्रकार की पेपियर-मेशी की वस्तुएं तैयार की जाती हैं। ये वस्तुएं किसी समय काश्मीरी कला का उत्कृष्ट नमूना होती थीं, परन्तु इधर कुछ दिनों से इस कला का भी ह्रास होता जा रहा है, और अब उसमें सस्ती और घटिया क़िस्म की सामग्री, रंग और वार्निश का प्रयोग होने लगा है। वस्तुओं की

आकृति भी पहले जैसी कलापूर्ण नहीं रही और नये और भद्दे ढंग के डिज़ाइन प्रचलित हो गए हैं।

कागज़

प्राचीन काल में भारत के अन्य स्थानों की तरह काश्मीरी लेखक भी भोज-पत्रों पर ही पुस्तकों की पाण्डुलिपियां तैयार करते थे। चीन में सर्वप्रथम ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी के लगभग कागज़ बनना शुरू हुआ। वहां से तेरहवीं शताब्दी में यह कला समरकन्द तक पहुंच गई। सुलतान ज़ैनुलाब्दीन ने चौदहवीं सदी में वहीं से कागज़ बनाने वाले काश्मीर बुलाये और इस उद्योग का प्रचलन किया। गाँदरबल के निकट और नौशेरा में फ़ारसी ढंग से कागज़ बनाने का उद्योग शुरू हुआ। इस कला में उस समय से अब तक कोई उन्नति नहीं की गई है। यह उद्योग भी अब अवनति कर रहा है। फिर भी इतना कहना आवश्यक है कि काश्मीरी कागज़ सुन्दर और टिकाऊ होता है।

कढ़ाई का काम

काश्मीर में चार प्रकार की कढ़ाई की जाती है—(१) अमली, (२) चिकन, (३) डूरी और (४) थरमा। पहले पश्मीने या रेशम पर अत्यन्त सुन्दर और कला-पूर्ण कढ़ाई की जाती थी। आजकल इनके अतिरिक्त ज़ीन, लिनेन, ऊनी और सूती कपड़े पर भी कढ़ाई की जाने लगी है। यह कढ़ाई रेशम, पश्मीने या ऊन के धागे से की जाती है। वस्त्रों पर, मेज़पोश, टाई, रूमाल, ब्लाउज़, चोगे आदि सैकड़ों प्रकार की वस्तुओं पर अत्यन्त सुन्दर कढ़ाई करके काश्मीरी कलाकार इन वस्तुओं को कलापूर्ण बना देते हैं।

लगभग तीन-चार हज़ार व्यक्ति कढ़ाई के उद्योग में लगे हुए हैं। आजकल जो नये डिज़ाइन प्रचलित हैं उनमें चिनार की पत्ती, शाल, इन्द्रधनुप, अजगर आदि प्रमुख हैं।

इस्लामाबाद (अनंतनाग) में पट्टू के टुकड़ों को जोड़-जोड़ कर उन पर कढ़ाई की जाती है, इस प्रकार कमरे में बिछाने के सुन्दर गब्बे तैयार किये जाते हैं। इसी प्रकार ऊनी फेल्ट पर बड़े-बड़े बेल-बूटे डालकर नम्दे तैयार किये जाते हैं। नम्दे पहले यारकन्द से आते थे, और उन पर काश्मीर में कढ़ाई की जाती थी, परन्तु अब नम्दे भी काश्मीर में ही बनने लगे हैं, ये यद्यपि यारकन्दी नम्दों के समान सुन्दर और टिकाऊ नहीं होते।

इसमें सन्देह नहीं कि कढ़ाई और कसीदे की कला जितनी काश्मीर में अपनी पूर्णता को पहुँच गई है उतनी अन्यत्र कहीं नहीं।

काश्मीर के प्राचीन मंदिर पत्थर या कंकड़ के बने हैं, परन्तु मसजिदें बहुधा लकड़ी की हैं और उनके भीतर लकड़ी पर अद्भुत कारीगरी का काम किया गया है।

लकड़ी की खुदाई का काम

विशेषकर शाह हमदान और मखदूम साहब की मसजिदों में लकड़ी का विलक्षण काम देखने को मिलता है। काश्मीरी में बढ़ई को त्रखान कहते हैं। काश्मीरी त्रखान अत्यन्त गुणी कलाकार हैं। लकड़ी का काम विशेषकर तीन प्रकार का होता है—(१) पिंजरा (या जाली़दार काम) (२) खतमबन्द (या रेखागणित की रीति के आकार वाले लकड़ी के टुकड़ों को जोड़कर छत या दीवार पर चौखट, चढ़ाने का काम) और (३) खुदाई का काम।

पिंजरा के काम में बेल-बूटेदार या रेखागणित की रीति के आकारों की अत्यन्त भव्य जालियां बनाई जाती हैं। इसमें बुदलू या काइर की लकड़ी का प्रयोग होता है। काश्मीर में सबसे उत्कृष्ट पिंजरा के काम के निम्न नाम हैं—पोश कन्दूर, चहारखाना, सादह कन्दूर, शाशतेज़, शाश सितारा, शाश-पहलू, द्वाज़दहसर, जाफ़री, जहान शीरीं, और तोता शाशतेज़ आदि।

खतमबन्द के काम में चीड़ की लकड़ी के अनेक आकारों के टुकड़े जोड़े जाते हैं। छत के चौखटों में अधिक प्रसिद्ध चौखटों के नाम हैं—हज़ार गरदान, बन्देरूम, हश्तपहुल, चहारबख्श, मोज, हश्त-हजार, बादामहजार सेहबख्श और दवाज़दाह-गर्द आदि।

लकड़ी पर पहले खुदाई भीतर की ओर गहरा खोदकर की जाती थी। परन्तु आजकल ऊपर को उभरे हुए पैटर्न बनाये जाते हैं। इन डिज़ाइनों में चिनार, इन्द्रधनुष, कमल-कमलिनी, या दौड़ते हुए बैल आदि की आकृतियां ऊपर को उभरी हुई और नीचे की ओर से खोदकर उठाई हुई बनाई जाती हैं। चिनार और कमल के पैटर्न अत्यन्त सुन्दर बनते हैं और काश्मीर का स्थानीय सौन्दर्य-तत्त्व लकड़ी की चीज़ों में भर देते हैं। इधर कुछ दिनों से लासा के डिज़ाइन प्रयोग में आने लगे हैं और सपक्षसर्प बनने लगे हैं।

आजकल लकड़ी के खुदाई किये हुए मेज़, परदे, फ्रेम, ट्रे, सिगार और सिगरेट के बक्स, संगीत के स्टैंड आदि विशेषकर बनाये जाते हैं और उनमें अखरोट की लकड़ी का प्रयोग होता है।

प्राचीन काल में हिन्दुओं ने लकड़ी पर खुदाई का काम करने की कला का विकास किया था क्योंकि कई पुराणों में इसका उल्लेख मिलता है। आजकल सहस्रों काश्मीरी मुसलमान कारीगर इस उद्योग में लगे हुए हैं।

काश्मीर का धातु का कार्य कई शताब्दियों से प्रसिद्ध रहा है। संभवतः मुग़लों ने इस कला को विशेष प्रोत्साहन दिया था। धातु के कार्य में तुर्कमानी ढंग का टिन का काम, पीतल और तांबे पर लाख का काम और

धातु का काम

पीतल, तांबा या चांदी के वर्तनों पर मीनाकारी का काम तो प्रसिद्ध है ही, परन्तु सबसे उत्कृष्ट काम चांदी और तांबे पर खुदाई करके किया जाता है।

काश्मीर में सबसे उत्तम चांदी के काम का डिज़ाइन शाल का डिज़ाइन है जो अत्यन्त यत्न-साध्य है। अरबेस्क, रोज़िटी, चिनार, मोज़ेक, बंडीरूम और इस्लिम आदि सभी पैटर्न चांदी की चीज़ों पर खोदे जाते हैं। आजकल पुराने ढंग की खुदाई के स्थान पर नये ढंग से चिनार, इन्द्रधनुष, गोखरू, गुलाब और दौड़ते हुए बैल के पैटर्न बनने लगे हैं। पुराने काश्मीरी पैटर्नों में लासा का प्याला, यारकन्द का घड़ा, बुखारे का घड़ा, काशगर, कमल, आफ़ताब, और कॉगड़ी आदि हुआ करते थे।

इन कलाओं के अतिरिक्त पत्थर पर खुदाई करने की तक्षण-कला, क़ीमती पत्थरों के आभूषण और सजावट की वस्तुएं बनाने की कला आदि भी काश्मीर की विशेषता हैं और रेशम और ऊनी कपड़े की दस्तकारियां काश्मीर के उद्योगों में प्रमुख स्थान रखती हैं।

काश्मीर की कलाओं और दस्तकारियों के संबंध में इतना अवश्य कहना चाहिए कि शताब्दियों के शोषण और उत्पीड़न के बावजूद काश्मीरी कलाकारों और दस्तकारों ने इन कलाओं को न केवल सुरक्षित रखा है परन्तु यथावसर वे उनमें उन्नति भी करते आये हैं। जहां तक उनकी अपनी दक्षता और निपुणता का संबंध है, ये ग़रीब, गुमनाम कलाकार संसार के किसी भी देश के दस्तकारों का मुक़ाबला कर सकते हैं। यह एक हृदय-विदारक सत्य है कि इतनी मौलिक प्रतिभा के कारीगर अपनी बनाई अपूर्व वस्तुओं से अपना पेट भी नहीं पाल सकते और धीरे-धीरे ये कलाएं अवनति करती जा रही हैं। राज्य की ओर से अब तक उनको दिखावटी संरक्षण ही मिला है और उनकी बनाई हुई अनुपम वस्तुओं की विदेशों में बिक्री का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं किया गया है।

आठ

ऐतिहासिक प्रगति

कल्हण के समय से अब तक का काश्मीर का इतिवृत्त अनेक इतिहास-पुस्तकों में सुरक्षित है। परन्तु यह इतिवृत्त ही है, आधुनिक अर्थों में इतिहास नहीं। अर्थात् क्रमशः एक के बाद दूसरा कौन राजा गद्दी पर बैठा, उसने कौन-से पराक्रमी कार्य किये, प्रजा-हित के लिए कैसी नीति का पालन किया, या उसके दरबार में सामन्तों और मन्त्रियों के बीच कौन-से षड्यन्त्र और कूट-चक्र चलते थे और राजा ने प्रजा-वत्सलता त्यागकर कितने भीषण अत्याचार और अन्याय किये—केवल इन्हीं बातों का इतिवृत्त हमें मिलता है। इतिहास की गतिविधि के संचालक रूप में केवल राजा और सुलतान ही दृष्टिगोचर होते हैं, जनता की इस बीच क्या भूमिका रही, उत्पादन के साधनों में जो परिवर्तन आये, उनसे जन-जीवन पर क्या प्रभाव पड़े और काश्मीर की संस्कृति का किस प्रकार विकास हुआ—इन सारी बातों का विवेचन इन इतिहासों में नहीं मिलता।

अतः जन-दृष्टि से काश्मीर के सच्चे इतिहास की खोज-बीन करने का अर्थ है कि इस बात की पड़ताल की जाय कि कई सहस्र वर्ष पूर्व जब आर्य उत्तर-पश्चिम की दिशा से काश्मीर की घाटी में प्रविष्ट हुए, उस समय काश्मीर के आदि-निवासी कौन थे। क्या आर्यों की तरह वह भी बर्बरता-युग के मानव थे या तब तक यहां पर बर्बरता का युग समाप्त हो चुका था और दासता का युग प्रारभ हो गया था। यह इतिहास-सिद्ध है कि आर्य जिस समय मध्य-एशिया और भारत में फैले उस समय वे बर्बरता-युग के प्रारंभिक या मध्य-काल में थे, और जिन-जिन नये प्रदेशों में वह गये वहां उन्हें आदि-निवासियों से युद्ध करने पड़े। ये आदि-निवासी अपने ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से कहीं बर्बरता-युग के निवासी थे, कहीं दासता-युग में प्रवेश कर सभ्यता-पथगामी बन चुके थे, और कहीं आर्यों से भी अधिक पिछड़े हब्सी थे। इस-

लिए काश्मीर में आर्यों ने जब प्रवेश किया उस समय यहां के मूल निवासी अपने ऐतिहासिक विकास के किस चरण में थे, उनके उत्पादन और रहन-सहन के ढंग क्या थे, उनके समाज का संगठन क्या था और उनके संगठन, जीवन-विधि और रस्म-रिवाजों को परवर्ती समाज ने किस सीमा तक और किन रूपों में सुरक्षित रखा, आर्यों के आगमन से यहां के सामाजिक-जीवन में क्या परिवर्तन हुए, किस समय, किन कारणों से बर्बरता और उसके पश्चात् गुलामी के युग समाप्त हुए और काश्मीर में सामन्ती-युग का सूत्रपात हुआ, आदि प्रश्नों पर प्रकाश डालना इतिहास-लेखक का प्रथम कर्तव्य है।

कल्हण की राजतरंगिनी से इस दिशा में केवल इतना संकेत मिलता है कि सन् २१८० (ई० पू०) से पहले काश्मीर में कोई व्यवस्थित केन्द्रीय राज-सत्ता नहीं थी, अर्थात् उस समय तक काश्मीर की उपत्यका में सामन्ती समाज पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हो पाया था। परन्तु इसके पूर्व यहां दासता-युग का वर्ग-समाज था या बर्बरता-युग का प्रागैतिहासिक साम्यवादी समाज, इसका स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। कल्हण के अनुसार हमें केवल इतना ज्ञात होता है कि उस समय दयाकरण नाम के व्यक्ति ने प्रथम बार काश्मीर की समूची घाटी को एक करके यहां पर एक केन्द्रीय राज्य सत्ता स्थापित की।

जन-दृष्टि से काश्मीरी जाति के इतिहास का अध्ययन-विवेचन करना किसी भी वैज्ञानिक खोज का परिणाम होना चाहिए, परन्तु यहां इस पुस्तक में इस दृष्टिकोण से काश्मीर के इतिहास की एक संक्षिप्त झांकी देना भी संभव नहीं है। कारण, न तो लेखक को खोज-पड़ताल करने की व्यापक सुविधाएं रही हैं, और न इतना अवकाश ही कि वह इस कार्य में दो-एक वर्ष लगा देता। इस आवश्यकता की ओर इशारा करने से लेखक को केवल इतना ही अभिप्रेत है कि इतिहास के गंभीर, प्रगतिशील विद्यार्थियों को इस दिशा में पूरी खोज-बीन करनी चाहिए और एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में काश्मीर के जन-इतिहास का प्रणयन करना चाहिए। इस प्रकार के इतिहास के युग और काल एक-दूसरे से ऐतिहासिक विकास-शृंखला में संबद्ध होंगे—जैसे बर्बरता, दासता, सामन्ती या जागीरदारी और अन्त में पूंजीवादी युगों के रूप में—न कि एक साम्प्रदायिक दृष्टि से हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और पुनः हिंदू या डोगरा काल की कहानी कहेंगे। इससे किसी भी देश के सच्चे जन-इतिहास पर प्रकाश नहीं पड़ता। अतः लेखक को इस बात का हार्दिक खेद है कि इस संक्षिप्त प्रकरण में उसे परिस्थितियों से बाध्य होकर इतिहास-लेखन की पुरानी परिपाटी पर ही चलना पड़ रहा है।

राजतरंगिनी की पहली तीन पुस्तकों में केवल राजाओं के नाम गिनाये गए हैं। प्रथम राजा दयाकरण के समय से लगभग तीन सहस्र वर्षों तक हिन्दू और बौद्ध राजे काश्मीर पर राज्य करते रहे। इस दीर्घकाल में २१ राजवंशों ने राज्य किया।

प्रारंभिक हिन्दू-कालीन काश्मीर की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का कोई प्रामाणिक विवरण देना संभव नहीं है, क्योंकि कल्हण का विवरण भी प्रामाणिक तथ्यों का आधार कारकोट वंश के (सातवीं शताब्दी के मध्य में) गद्दी पर बैठने के पश्चात् ही ग्रहण करता है। अतएव प्राचीन हिन्दू-काल के संबंध में अधिक-से-अधिक केवल इतना ही अनुमानित किया जा सकता है कि उस समय सरकार निरंकुश पितृसत्ताक ही थी। यदि राजा उदार-हृदय और प्रजा-वत्सल होता तो जनता सुखी रहती थी और यदि राजा निरंकुश और क्रूर होता था तो प्रजा में अत्याचारों के विरुद्ध त्राहि-त्राहि मची रहती थी। राजतरंगिनी के अनुसार अच्छे और बुरे राजाओं का यह क्रम सहस्रों वर्षों तक लगा रहा।

प्राचीन हिन्दू-काल के जिन राजाओं के नाम उल्लेखनीय हैं उनमें मेघवाहन (१–३५ ई०) जयनन्द (४८२–६१६ ई०) इसलिए प्रमुख हैं कि उनके समय में न केवल देश में शान्ति और समृद्धि रही वरन् उन्होंने पड़ोस के प्रदेशों को विजित करके अपूर्व ख्याति भी प्राप्त की; और राजा विनयदित्य (४०७–४४० ई०) का नाम इसलिए स्मरणीय है कि वह अत्यन्त सरल और साधु-प्रकृति का 'दार्शनिक' राजा था। गद्दी स्वीकार करने के लिए उसकी शर्त थी कि उसके राज्य में कोई झूठ न बोले, जीवित प्राणी की हत्या न करे और किसी देशवासी को धोखा न दे।

गोपादरी (शकराचार्य) की पहाड़ी के नीचे एक साधारण-सी झोंपड़ी में वह रहता था। पास में उसने कामराज और मराज (उत्तरी और दक्षिणी काश्मीर) के लिए दो गोदाम बनाये जिनमें किसान अपनी पैदावार का दसवां भाग अपनी मरज़ी से डाल जाते थे। वह स्वयं खेती करता था और अपनी पैदावार का दसवां भाग गोदाम में जमा करता था। वाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करने के लिए उसे फ़ौज रखनी पड़ी थी, जिसके लिए उसने एक गोदाम की चाबी अपने भाई को दे दी थी। दूसरे गोदाम में से वह प्रतिदिन प्रातःकाल ज़रूरतमन्द लोगों को अनाज बाँटता था। राज-कार्य चलाने के लिए वह राजकर्मचारियों की आवश्यकता नहीं मानता था, बल्कि प्रजा की ईमानदारी और साधु-भावना पर ही निर्भर करता था। इसी कारण लोग आज भी विनयदित्य का नाम नहीं भूले और यदि अप्रत्या-

शित रूप से कोई अच्छी बात हो जाती है तो कहते हैं कि 'विनयदित्य के दिन लौट आये।'

इनके अतिरिक्त राजतरंगिनी की प्रथम तीन पुस्तकों में जिन राजाओं के नाम इतिहास-सिद्ध हैं, उनमें अशोक (२७२–२३२ ई० पू०—भारत का महान् सम्राट्), कनिष्क और हविष्क (दूसरी शताब्दी के गंधार पर राज्य करने वाले कुशन राजा, जिनका साम्राज्य काशगर और यारकन्द से लेकर पटना तक फैला हुआ था),. तोरमान और मिहिरकुल (श्वेत हूण आक्रमणकारी, जिन्होंने पाँचवीं शताब्दी में उत्तरी भारत को रौंद डाला था) उल्लेखनीय हैं। यह एक मनोरंजक बात है कि राजतरंगिनी में इन विदेशी राजाओं का उल्लेख भी इस प्रकार हुआ है मानो वे काश्मीरी ही हों, यद्यपि काश्मीर उनके साम्राज्य का एक छोटा-सा हिस्सा था। साथ ही उनके राज्य-काल की जो तारीखें कल्हण ने दी हैं, वे भी सर्वथा ग़लत हैं। परन्तु जिस श्रुति-परंपरा से कल्हण ने इन राजाओं का नाम सुना था वह एक प्रकार से सही थी; क्योंकि उनकी शासन-व्यवस्था की जिन विशिष्टताओं का कल्हण ने वर्णन किया है, वे सही हैं।

काश्मीर का प्रामाणिक इतिहास वस्तुतः कारकोट-वंश के सातवीं शताब्दी के मध्य में गद्दी पर बैठने के पश्चात् से ही प्राप्त है, यद्यपि एक सीमा तक छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में राज्य करने वाले प्रवरसेन द्वितीय को भी ऐतिहासिक पात्र समझा जा सकता है।

हिन्दू और बौद्ध-काल के समस्त राजाओं के कार्य-कलाप का वर्णन करना असंभव है। परन्तु उनमें प्रवरसेन द्वितीय, ललितादित्य, जयपीड, अवन्तीवर्मन, दिद्दारानी, सुस्सल और जयसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्य राजाओं के नाम का किसी विवरण में अलंकारिक मूल्य भी नहीं है।

प्रवरसेन द्वितीय—कारकोट-वंश के पूर्व के स्थानीय राजाओं में केवल प्रवरसेन द्वितीय का नाम ही उल्लेखनीय है। विवरणों में उल्लिखित उसके गौरव-शाली कारनामों की सूची चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक न हो, परन्तु इस बात का प्रमाण अवश्य है कि उसने प्रवरसेनपुरा नाम से जो नगर बसाया था, वह आजकल का श्रीनगर है। अशोक की राजधानी का नाम पुरानाधिष्ठान (वर्तमान पांद्रेठन—श्रीनगर से ३ मील उत्तर-पूरब की दिशा में स्थित गांव) था। प्रवरसेनपुरा ने भी शीघ्र ही अशोक की राजधानी का नाम और ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया। कल्हण के अनुसार उस समय नगर वितस्ता के दाहिने तट पर ही बसा था।

ललितादित्य—मुक्तापीड (७१५–७५२ ई०)—डेढ़ शताब्दी के बाद

एक और महान् और वास्तविक रूप से ऐतिहासिक राजा काश्मीर की गद्दी पर बैठा। ललितादित्य के भाई तारापीड के कुशासन के कारण देश में अराजकता और अशान्ति छाई हुई थी। परन्तु मुक्तपीड, जो बाद में ललितादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ; वह एक नीतिज्ञ राजा था और उसने देश में शान्ति स्थापित की। काश्मीर के राजाओं में ललितादित्य सबसे अधिक पराक्रमी और वीर राजा हुआ है। लोक-परंपरा के अनुसार तो वह भारत की विजय-यात्रा को निकला था और उसने भारत के कोने-कोने को विजित किया था। इसके पश्चात् उसने अफ़गानिस्तान के मार्ग से तुर्किस्तान और मध्य-एशिया का एक भाग भी जीत लिया था। अन्त में १२ वर्ष की विजय-यात्रा के बाद वह तिब्बत के मार्ग से काश्मीर लौटा। परन्तु भारत में उसकी विजय-यात्रा एक फ़ौजी आक्रमण से अधिक महत्त्व नहीं रखती। क्योंकि उसने उत्तर-भारत के किसी भी देश को हस्तगत किया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह सही है कि उसने कान्य-कुब्ज (कन्नौज) पर हठात् आक्रमण किया था और इसके पूर्व कि वहां का राजा यशोवर्मन इस अचानक आपत्ति से संभल पाता, उसकी फ़ौजें परास्त हो गई और उसे विवश होकर ललितादित्य के पास संधि-पत्र भेजना पड़ा। इसके अतिरिक्त ललितादित्य की अन्य विजयों के ज़िक्र प्रामाणिक नहीं लगते।

ललितादित्य कला और विज्ञान का प्रेमी था और उन्हें समुचित प्रोत्साहन देता था। उसने अनेक नगर बसाये जिनमें पर्णोत्स (वर्तमान पूंछ) ललितापुर और परिहासपुर प्रमुख हैं। पूंछ आज भी अच्छा-ख़ासा नगर है, परन्तु अन्य दोनों अब कतिपय झोंपड़ियों के गांव-मात्र रह गए हैं। परिहासपुर को उसने अपनी राजधानी बनाया था और उसमें अनेक चैत्य, मठ और मंदिर बनवाये थे। आज भी इन मंदिरों के अवशेष उनके संस्थापक के शौर्य की साक्षी देते हैं। परन्तु ललितादित्य का सबसे भव्य और विशाल और कला की दृष्टि से अनुपम स्मारक मार्तण्ड का मन्दिर है। काश्मीर के प्राचीन स्मारकों में मार्तण्ड का मंदिर सर्वश्रेष्ठ है। वह ब्राह्मणों और बौद्धों को समान रूप से धन बांटता था। विजाब्रोर के नीचे के चक्धर उडर की सिंचाई के लिए उसने जलचक्रों (water-wheels) का सिलसिला नीचे से ऊपर तक तैयार करवाया था।

ललितादित्य के चरित्र में सबसे बड़ी बुराई, उसकी नित्य शराब पीने की आदत थी, जिसके कारण नशे में आकर वह ऊँच-नीच का निर्णय किये बिना अत्यन्त ऊल-जलूल हुक्म दे बैठता था।

अपने अन्तिम दिनों में ललितादित्य ने शासन-नीति पर एक पुस्तक लिखी

जिसमें उसने भावी राजाओं के लिए शासन-संबंधी हिदायतें लिखी हैं।

जयपीड-विनयादित्य ललितादित्य का नाती था। उसने ३१ वर्ष तक काश्मीर पर राज्य किया। प्रारंभ में वह अपने यशस्वी पितामह के चरण-चिन्हों पर चलता रहा, परन्तु अपने शासन के अन्तिम दिनों में वह अत्यन्त क्रूर, दम्भी और लालची हो गया। उसके अत्याचारों से तिलमिला कर ब्राह्मणों ने उसकी हत्या कर दी। सुम्बल के पास उसने जयपीड-अन्दरकोट नाम का नगर बसाया था।

जयपीड के पश्चात् जो राजा हुए वे अत्यन्त निर्बल थे। उनके समय में मंत्रियों की शक्ति अपार हो गई। आठवीं शताब्दी के मध्य तक 'उत्पल' और उसके चार भाइयों ने राज्य किया। उनके अत्याचारों और शोषण के विरुद्ध देश में गृह-युद्ध छिड़ गया जिसमें चारों भाई मृत्यु के घाट उतार दिये गए।

अवन्तीवर्मन (८५५–८८३ ई०) ललितादित्य के पश्चात् सबसे यशस्वी राजा हुआ। कल्हण के विवरण में वह सबसे प्रिय राजा वर्णित है। उसने अपने प्रारंभिक जीवन में अनेक कष्ट झेले थे, अतः उसके स्वभाव में शक्ति और कोमलता का अद्भुत संयोग हुआ था।

मंत्रियों के स्वार्थी शासन ने और सामन्तों के परस्पर झगड़ों ने देश में जो अशान्ति और अराजकता फैला रखी थी, अवन्तीवर्मन ने कठोरतापूर्वक उसका दमन करके देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित की।

परन्तु अवन्तीवर्मन की महानता और जन-प्रियता का कारण उसके लोक-हित के लिए किये गए कार्य हैं। उन दिनों काश्मीर की घाटी का सबसे बड़ा अभिशाप यह था कि यहां पानी की बहुतायत थी। नदियों में अक्सर बाढ़ आती रहती थी जिससे ज़मीन का एक बड़ा भाग पानी में डूबा रहता था।

अवन्तीवर्मन ने इसका उपाय करने के लिए एक प्रतिभाशाली इंजिनियर सुय्य को नियुक्त किया। सुय्य द्वारा किये गए वितस्ता-नियमन के उपायों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उनका परिणाम यह हुआ था कि देश में शाली (धान) का भाव तुरन्त ८४ फ़ीसदी कम हो गया। इसके अतिरिक्त घाटी की तमाम नदियों और नालों की धारा को अपनी सीमा के भीतर ही रखने के लिए और खुश्क करेवा-भूमि की सिंचाई के लिए नहरें आदि बनाने के रूप में उसने जितना कार्य किया उसका सविस्तार वर्णन करना यहां संभव नहीं है।

अवन्तीपुर में अवन्तीवर्मन के बनवाये अवन्तीस्वामी के मंदिर के अवशेष इस मंदिर को हिन्दू-स्थापत्य का सर्वश्रेष्ठ नमूना सिद्ध करने के लिए स्थायी प्रमाण हैं।

अवन्तीवर्मन का मंत्री सूर अत्यन्त योग्य और कुशल नीतिज्ञ था। वह स्वयं विद्या-प्रेमी और कला का पारखी था। अपने समय के दार्शनिकों, कवियों और अलंकारशास्त्रियों को वह धन और भूमि देकर पुरस्कृत करता रहता था और उन्हें राज्य-परिषद् में भी स्थान देता था।

शंकरवर्मन (८८३–९०२ ई०)। जिन उपद्रवी शक्तियों का दमन करके अवन्तीवर्मन ने शान्ति स्थापित की थी, उसकी मृत्यु के बाद वे पुनः दुगने ज़ोर से उभर पड़ीं। उसके पुत्र शंकरवर्मन ने ऐसे भीषण कर लगाये कि देश गरीब और दरिद्र बन गया। परन्तु उसके उत्तराधिकारियों के समय में कुशासन का जो दौर चला, वह पुरानी समस्त सीमाओं को भी लांघ गया। ३४ वर्षों में लगभग १० राजा गद्दी पर बैठे। एक-एक राजा कई बार गद्दी पर बैठा और गद्दी से उतारा गया। चक्रवर्मन के समय तक देश में तांत्रिनों ने राज्य की अपार शक्ति अपने हाथों में कर ली थी। राजा और सामन्त सभी इस छोटे परन्तु शक्तिशाली वर्ग के कृपाकांक्षी थे। एक राजा को गद्दी पर बैठते देर न होती थी कि कोई दूसरा व्यक्ति तांत्रिनों को रिश्वत देकर गद्दी प्राप्त कर लेता था। राजा राज्य की आमदनी को पानी की तरह बहाते थे, रानियां अपने सतीत्व को बेचती थीं, बेटे अपने बाप के विरुद्ध षड्यन्त्र रचते थे और बाप अपने बेटों के पीछे जल्लाद लगाते थे। अन्त में चक्रवर्मन ने (९३६ ई०), जो दो बार गद्दी से उतारा गया था, दमरों से सहायता मांगी। दमर सामन्त और जागीरदार थे। उनकी मदद से उसने तांत्रिनों को परास्त किया और गद्दी पर बैठा।

परन्तु अब तांत्रिनों की जगह दमर देश के वास्तविक शासक बन गए। और लगभग दो-सौ वर्ष तक राज्य पर उनका प्रभुत्व बना रहा। शासन-व्यवस्था नाम की कोई चीज़ नहीं थी। राजा, मंत्री और सामन्त सभी क्रूर, विलासी और नृशंस थे। दरबार हत्यारों, गला काटने वालों और ज़हर पिलाने वालों का अड्डा बना रहता था। मूर्ख मंत्री बनते थे, डरपोक सेनापति होते थे, और जाति-च्युत और पतित लोग जो केवल विदूषक बनने की ही योग्यता रखते थे राजा-रानी बनते थे।

हर्ष (१०८९–११०१ ई०)—इस कुशासन का हर्ष के समय में अन्त हुआ। हर्ष बहुत बुद्धिमान् नहीं था, परन्तु यदा-कदा उसमें उदार वृत्तियां जग जाती थीं और वह कला-साहित्य का संरक्षक बन जाता था। स्वयं वह संभवतः लोकप्रिय संगीत की रचना करने में समर्थ था। परन्तु शासन की ओर उसका ध्यान नहीं था, जिससे आये दिन सड़कों पर दिन-दहाड़े हत्याएं होती थीं, यहां तक कि चोर-

डाकू राजा के महल में भी निडर घुसकर चोरी कर लाते थे, चीज़ों के भाव बेहद बढ़ गए थे उस पर अकाल और प्लेग ने जनता के जीवन में विभ्राट पैदा कर दिया था। शव जलाने वाले दुष्प्राप्य हो गए थे और नदी में लाशें तैरती थीं। हर्ष ने स्वय अपने परिवार और सामन्तों की आम हत्या की आज्ञा दे दी थी। काश्मीरियों की सहन-शक्ति समाप्त हो गई, अतः जब उसके भतीजों (उच्छल और सुस्सल) ने विद्रोह का झंडा उठाया तो पंडित, पुजारी, राजकुमार और किसान, सभी ने उसका साथ दिया। राज-प्रासाद में आग लगा दी गई, रानियां ज़िन्दा जला दी गईं, राजकुमार को मार दिया गया और भागे हुए राजा को एक भिखारी की कुटिया में से निकालकर मौत के घाट उतार दिया गया। और इस प्रकार प्रथम लोहरा वंश समाप्त हुआ।

उच्छल (११०१–११११ ई०)—उच्छल ने गद्दी पर बैठते ही कूटनीति चलकर अपने सामन्त मित्रों से हथियार छीन लिये। शासन पर कठोर नियन्त्रण रखा, नौकरशाही में नीचे से ऊपर तक परिवर्तन किया, कर्मचारियों में फैले व्यभिचार का सख्ती से दमन किया और एक अनुपम ढंग से न्यायपूर्वक राज्य करना प्रारंभ किया। वह नित्य जनता की फ़रियादें सुनता था और अपनी शक्ति-भर उन्हें दूर करने की चेष्टा करता था। ख़लीफ़ा हारून-उल-रशीद की तरह वह छद्मवेश में जनता के बीच में घूमने का आदी था। राज-भंडार का नाज उसने अकाल-पीड़ितों के लिए नाम-मात्र के मूल्य पर बेचा। परन्तु चूंकि वह स्वभाव से उद्दण्ड था उसके साथी उससे विमुख हो गए और उसकी हत्या कर दी गई।

सुस्सल (१११२–११२०)—उच्छल की हत्या के पश्चात् सुस्सल गद्दी पर बैठा। उसने अपने भाई की हत्या का कठोर बदला चुकाया। परन्तु आठ वर्ष बाद हर्ष के पौत्र भिक्षाचर ने उसे गद्दी से उतार दिया। कुछ महीनों के बाद उसने पुनः गद्दी छीन ली और सन ११२८ तक राज्य करता रहा। अपने अन्तिम दिनों में वह भी अत्याचारी और क्रूर बन गया था, परन्तु प्रथम लोहरवंश की अपेक्षा राज्य-व्यवस्था फिर भी अच्छी थी। उसका पुत्र जयसिंह (११२८–११५५) काश्मीर के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। वह कूटनीति और रिश्वत से अपना लक्ष्य सिद्ध करने में अत्यन्त निपुण था। अपने कर्मचारियों और प्रजा के प्रति वह अत्यन्त नम्र और विनयशील, शत्रुओं के प्रति उदार—मुंह में राम बगल में छुरी वाला व्यक्ति था। और इस प्रकार प्रारंभिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करके वह शान्ति-स्थापन में सफल हुआ। उसके राज्य के प्रथम सत्रह वर्ष सामन्तों से युद्ध करने में बीते। सामन्तों ने पांच बार गद्दी के दावेदार खड़े किये, उनमें से कुछ

का तो लोहर के क़िले में राज्याभिषेक भी किया गया, परन्तु हर बार सामन्त और दावेदार पराजित होते गए और सन् ११४५ ई० तक ये आन्तरिक उपद्रव समाप्त हो गए। कल्हण इसी जयसिंह का समकालीन था। उसने लिखा है कि जयसिंह ने समय के अपघातों और क्षुद्रताओं से उजड़े वीरान में पुनः जन-धन पैदा कर दिए। परन्तु जयसिंह की मृत्यु के बाद देश में पुनः अराजकता फैल गई। और अगले दो सौ वर्षों तक ऐसा कोई प्रतिभाशाली राजा नहीं हुआ जो देश में सुख शान्ति स्थापित कर पाता। अन्त में सुहदेव या सहदेव (१३०१—१३१९-२० ई०) के समय में काश्मीर का राजनीतिक आकाश मेघाच्छन्न हो गया। दुलुच (ज़ुलक़ादिर ख़ां) जो अबुलफ़ज़ल के अनुसार कन्धार के राजा का प्रधान सेनापति था, काश्मीर की सीमा में घुस आया। सहदेव ने उसे रिश्वत देकर आक्रमण न करने के लिए राज़ी तो कर लिया, परन्तु रिश्वत पाते ही उसने लूट-मार शुरू कर दी। जाड़ा शुरू हो जाने के कारण उसे वापस जाना पड़ा, परन्तु अपने पीछे वह हज़ारों उजड़े, वीरान घर छोड़ गया।

जिस समय दुलुच घाटी में लूट-मार कर रहा था, उस समय तिब्बती राजकुमार रिंचन, जो अपने देश से भागकर काश्मीर में एक शरणार्थी के रूप में रहता था, यहां पर गद्दी छीनने की घात लगा रहा था। अवसर से लाभ उठाकर राजा की अनुपस्थिति में प्रधान-मंत्री रामचन्द्र की हत्या कराके वह गद्दी पर बैठ गया। राजा उस समय किश्तवाड़ में था, और ज़ुल्क़ादिर के तातारों की खूंख़ार लूट-मार के कारण देश में एक अराजकतापूर्ण अनस्थिरता उत्पन्न हो चुकी थी।

रिंचन—गद्दी पर बैठने के बाद रिंचन ने रामचन्द्र की पत्नी (कुछ लोगों के अनुसार पुत्री) कोटा से शादी कर ली। सुहदेव का भी क़त्ल करा दिया गया। तीन वर्ष तक (१३१९-२०—१३२२-२३ ई०) तक उसने बड़े उत्साह और शान से राज्य किया। सत्य और बराबरी के आधार पर उसने न्याय करने की प्रथा चलाई। रिंचन वैसे जन्म से बौद्ध था, परन्तु यहां का राज्य पाकर उसने हिन्दू-धर्म स्वीकार करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु ब्राह्मणों ने एक जाति-च्युत भोट को हिन्दू-धर्म में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी। निराश होकर वह अधिक उदार और प्रजातंत्रात्मक धर्म इस्लाम की ओर उन्मुख हुआ, और मुसलमान हो गया। कोटारानी के पुत्र को देख-भाल के लिए उसने किसी एक शाहमीर के हाथों में सौंप दिया। रिंचन अधिक दिनों तक राज्य नहीं कर सका, और उसके पश्चात् काश्मीर का राज्य मुसलमानों के हाथ में चला गया और काश्मीर की संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव पड़ने लगा। शाहमीर १३१३ ई० में काश्मीर आया

था और सुहदेव के यहां कर्मचारी था। परन्तु राजकुमार का अभिभावक बनना और तीन वर्ष में ही रिंचन की मृत्यु हो जाना, शाहमीर के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ। रिंचन की मृत्यु के बाद उसके पुत्र हैदर को उसने गद्दी पर नहीं बैठने दिया; बल्कि एक प्राचीन हिन्दू-राजवंश के वंशज उदयन को, जो गंधार में शरण लेकर रहता था, गद्दी पर बैठने के लिए आमन्त्रित किया।

उदयनदेव ने विधवा रानी कोटादेवी से शादी कर ली। परन्तु वह अधिकतर धार्मिक उपासना में लगा रहता था और कोटादेवी का उस पर जबर्दस्त अधिकार था। सामन्तों के परस्पर झगड़े और उत्पात राजसत्ता की जड़ें कमज़ोर कर रहे थे। शाहमीर ने शक्तिशाली परिवारों में शादी-विवाह करके अपने हाथ और मज़बूत कर लिये थे, और अनेक ज़रूरतमन्द सामन्तों को धन देकर मिला लिया था। अतः वह रिंचन के पुत्र हैदर को गद्दी पर बैठा देने की धमकी देकर उदयनदेव को हमेशा शंकित किये रहता था। जब १३३७-३८ ई० में उदयनदेव मरा, उस समय वह केवल श्रीनगर का ही राजा था। श्रीनगर के बाहर कोई उसकी सत्ता को नहीं मानता था। शाहमीर देश का वास्तविक राजा बन गया।

उदयनदेव की मृत्यु के बाद कोटादेवी स्वयं गद्दी पर बैठी। परन्तु उसके योग्य मंत्री भट्ट भिक्षण को शाहमीर ने एक दिन धोखे से मरवा दिया। अन्य मन्त्रियों को उसने रिश्वत देकर मिला रखा था। रानी निरुपाय हो गई। उसकी अनुपस्थिति में विश्वासघात करके शाहमीर राजधानी का मालिक बन बैठा और फिर अन्दरकोट में जाकर उसने रानी को क़िले के भीतर घेर लिया। निस्सहाय अवस्था में शाहमीर के साथ विवाह करने का वचन देकर कोटादेवी मुक्त हुई। परन्तु जब वह विवाह-मंडप में आई, उसने खंजर से अपनी आत्म-हत्या कर ली। इस प्रकार मध्यकालीन काश्मीर की अन्तिम हिन्दू रानी भी गुज़र गई और राजसत्ता मुसलमानों के हाथ में चली गई।

हिन्दू-कालीन काश्मीर की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का कोई प्रामाणिक वर्णन करना संभव नहीं है। राजतरंगिनी से केवल कतिपय परिणाम निकाले जा सकते हैं—

१. हिन्दू राजा अत्यन्त सादा जीवन व्यतीत करते थे। उनमें से अधिकांश तड़क-भड़क और वैभव-प्रदर्शन के विरोधी थे। उनकी आवश्यकताएं सूक्ष्म थीं। प्रजा के बीच में रहते थे। राजा और प्रजा के जीवन-स्तर में आकाश-पाताल-सा भेद नहीं था।

२. हर्षवर्धन के राज्य-काल (६१७-४३ ई०) में ह्यूनसांग काश्मीर

आया था। उसे यहां के लोग समृद्धिशाली और शान्तिप्रिय लगे। उसने देखा कि पश्चिम और दक्षिण के सारे राजा काश्मीर की अधीनता स्वीकार करते हैं।

३. काश्मीर की रानियों ने भी हिन्दू-काल में शासन-कार्य में पर्याप्त भाग लिया है। कुछ ने तो अपने जन-हितकारी कार्यों के लिए अपार ख्याति पाई है। दिद्दा रानी (६६८–१०१७ ई०) के राज्य-काल में महमूद ग़ज़नवी ने काश्मीर पर आक्रमण करने की चेष्टा की थी, परन्तु उसे निराश लौटना पड़ा था।

४. हिन्दू-काल में खेती की पैदावार के अतिरिक्त और किसी प्रकार के आर्थिक-साधन देश में नहीं थे। फिर भी सामन्तों और उपजीवियों का एक छोटा-सा वर्ग अवश्य था जो जालसाज़ियों और राजनीतिक उत्पातों में संलग्न रहता था। राजाओं के साथ मिलकर किसानों का शोषण करता था और राज-सत्ता पर अपना प्रभाव जमाने के लिए निरंतर षड्यन्त्रों में लगा रहता था। बहुधा इस वर्ग के लोग अपने स्वार्थ-साधन के लिए जनता को उभारते थे, इसलिए राजा भी उनसे शंकित रहते थे। इस वर्ग में ब्राह्मणों का बहुमत था। उन्होंने अनेक क्रूर और अत्याचारी राजाओं को गद्दी से उतारा। अप्रिय और निरंकुश राजाओं के विरुद्ध विद्रोह संगठित करके इस वर्ग के लोग उन पर जनमत का प्रभाव डालते थे। जनता भी इन विद्रोहों और प्रदर्शनों में भाग लेती थी। दमर, तांत्रीय और न्यायक-वर्ग के सामंत अपनी उद्दंडता, असहिष्णुता और षड्यन्त्रों के लिए प्रसिद्ध हैं। विद्रोह बहुधा जनहित के लिए नहीं होते थे, बल्कि जनता को उभारकर उच्चवर्ग के लोग अपना-अपना उल्लू सीधा करने की चेष्टा करते थे। परन्तु फिर भी इन विद्रोहों से निकम्मे और क्रूर राजाओं की निरंकुशता पर थोड़ा अंकुश अवश्य लग जाता था।

५. पैदावार का दसवां भाग कर के रूप में लिया जाता था। इसके अतिरिक्त और कोई कर नहीं लगाया जाता था, जिससे सिद्ध है कि आर्थिक-जीवन अत्यन्त सरल था और खेती के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य साधन पैदा नहीं हुए थे। उद्योग-धन्धे आदि नहीं के बराबर थे।

मुसलमान सुल्तानों ने काश्मीर में ढाई शताब्दी तक राज्य किया। उनके समय में भी शासन-पद्धति पुरानी ही बनी रही, यद्यपि इस्लाम ने काफ़ी प्रगति की और काश्मीर की अधिकांश जन-संख्या मुसलमान बन गई। फ़ारसी और अरबी के पारिभाषिक शब्दों से मिश्रित संस्कृत तब भी राज-भाषा बनी रही। उपासना के प्राचीन स्थान यथानुसार पवित्र माने जाते रहे या अधिक-से-अधिक हिन्दू-मन्दिरों के स्थान पर मुसलमान फ़क़ीरों के मक़बरे बन गए। काश्मीर में

उस काल की अनेक ज़ियारतें हैं जिनकी व्युत्पत्ति हिन्दू है। धर्म-परिवर्तन के बावजूद पुराने रीति-रिवाज, रहन-सहन के तरीक़े, यहां तक कि पुराने अंध-विश्वास भी ज्यों-के-त्यों बने रहे। इस शान्तिपूर्ण समन्वय का कारण यह था कि काश्मीर का इस्लाम कट्टर और धर्मान्ध नहीं था।

कोटादेवी से गद्दी छीनकर सन् १३३७ ई० में शाहमीर शमशुद्दीन के नाम से गद्दी पर बैठा। उसके वंश में शहाबुद्दीन, सिकन्दर बुत-शिकन, ज़ैनुलाब्दीन आदि महत्त्वपूर्ण सुल्तान हुए। शहाबुद्दीन (१३५५–१३७४ ई०) ने पश्चिमोत्तर भारत पर एक ज़बर्दस्त आक्रमण किया और सिंध नदी के उत्तरी भाग को रौंद डाला। उसने पेशावर जीतकर ग़ज़नी और कन्धार को ख़तरे में डाल दिया। हिन्दूकुश की हिम-चोटियों की दुर्गमता से विवश होकर लौटते समय वह पंजाब के मैदानों पर चढ़ दौड़ा और पूरब में सतलज तक जा पहुंचा। परन्तु सन् १३६१ में वितस्ता की घाटी का अधिकांश भाग ज़बर्दस्त बाढ़ के कारण जल-प्लावित हो गया और घाटी की सारी जनता को पहाड़ों और उडरों पर चला जाना पड़ा। यह शहाबुद्दीन की धार्मिक सहिष्णुता का प्रमाण है कि जब उसके मंत्री उदयश्री ने बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए 'बृहत् बुद्ध' की स्वर्ण-मूर्ति को पिघलाकर सिक्के ढलवाने का सुझाव रखा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ।

शहाबुद्दीन के बाद कुतुबुद्दीन (भूतपूर्व राजा का भाई) गद्दी पर बैठा। उसके संबंध में इतिहासकार फ़िरिश्ता का कहना है कि उसका प्रजा-वात्सल्य अद्भुत था। वह न्याय और दूसरे राज-काज स्वयं देखता-भालता था।

सिकन्दर बुत-शिकन (१३९०–१३१४ ई०)—कुतुबुद्दीन का बड़ा पुत्र सिकन्दर जब गद्दी पर बैठा वह बालिग़ अवस्था का भी नहीं था। उसके पिता के समय तक काश्मीर के सुल्तान धार्मिक मामलों में पूर्णतः निष्पक्ष और सहिष्णु थे। स्वयं कुतुबुद्दीन ने अकाल की विभीषिका से देश को बचाने के लिए हिन्दू-धर्म के अनुसार एक बलि दी थी, और ब्राह्मणों और उनकी धार्मिक-संस्थाओं को ज़मीनें बख़्शी थीं।

सिकन्दर ने स्वयं एक हिन्दू-स्त्री श्रीशोभा से विवाह किया था, और अपने राज्य के प्रारंभिक दिनों में वह भी अपने पूर्वजों की ही नीति पर चलता रहा। परन्तु चूंकि साहित्य का वह अत्यन्त उदार संरक्षक था, उसके यहां अनेक विदेशी साहित्य-मर्मज्ञ और विद्वान एकत्र हो गए थे। ये प्रवासी विद्वान् काश्मीरियों के समान सहिष्णु नहीं थे और यहां पर मुसलमानों और काफ़िरों के बीच ऐसा अगाध प्रेम-संबंध देखकर उन्हें धक्का लगा था। काश्मीरियों के मन में भी इन विदेशियों

के आगमन से सन्देह उत्पन्न हुए थे।

सिकन्दर काफ़ी दिनों तक विदेशी मौलवियों के दबाव के बावजूद धार्मिक-दमन की चक्की चलाने से अपने को रोकता रहा। परन्तु उसके मंत्री सुहभट्ट ने जो नया मुसलमान होने के कारण अपने पुराने धर्म के मानने वालों से सख्त नफ़रत करता था, अपनी दलीलों से सिकन्दर को विवश कर लिया। फिर क्या था—सिकन्दर में धर्मान्ध कट्टरता का बलबला फूट पड़ा। जो इस तूफ़ान के आगे नहीं झुके उन्हें दमन और उत्पीड़न से पीस दिया गया। शवों की दाह-क्रिया करना, शिखा और जनेऊ रखना वर्जित कर दिया गया। आदेश दिया गया कि देश में मुसलमानों के अतिरिक्त और कोई नहीं रह सकता। फलतः हिन्दू जनता देश छोड़कर, भागने लगी। सुल्तान और उसके मंत्री ने लोगों को सीमान्त तक तो जाने दिया, परन्तु आगे बढ़ने के सारे पर्वतीय मार्ग बन्द कर दिये। लोग इस जाल में फँस गए। 'मौत या इस्लाम' इनमें से किसी एक को चुनने की शर्त रखी गई। अधिकांश ने इस्लाम क़बूल कर लिया। सिकन्दर ने, इसके अतिरिक्त, चक्रधर और विजयेश्वर के मंदिरों को धराशायी करा दिया। मार्तण्ड और अवन्तीपुर के विशाल मंदिरों को तोड़ा गया। इतिहासकार जोनराज ने लिखा है कि "ऐसा कोई नगर, गांव या क़स्बा नहीं था, जहां पर सुहभट्ट द्वारा किये गए नाश से देवताओं के मंदिर बच सके हों।" फिर भी यह विचारणीय है कि इस समय भी काश्मीर की जनता सिकन्दर के पागलपन का शिकार नहीं हुई। देहात के मुसलमान किसानों ने हज़ारों निरीह पंडितों को देश से बाहर भागने में सहायता दी, और हज़ारों को उन्होंने अपने घरों में छिपाकर रखा।

सन् १३९८ ई० में हिन्दुस्तान पर तैमूरलंग और उसके तातारों ने आक्रमण किया। कई वर्षों से तुग़लकों का साम्राज्य डांवाडोल हो रहा था। गुजरात, ख़ानदेश, मालवा और जौनपुर आदि दिल्ली के सुलतान की अधीनता अस्वीकृत कर चुके थे। विभिन्न सामन्त साम्राज्य को आपस में बांट रहे थे। ऐसे समय में तातारों का अभिमान उन पर तूफ़ान की तरह फूट पड़ा, और सबको एक साथ उसने बरबादी की लपेट में खींच लिया। काश्मीर भी इस बार एकदम उदासीन दर्शक बनकर तटस्थ न रह सका। तैमूरलंग ने सिकन्दर को तटस्थ रहने के कारण दो हाथी भेंट में भेजे। दिल्ली से जब तैमूर लौट रहा था, सिकन्दर उससे मिलने के लिए आगे बढ़ा, परन्तु यह जानकर कि उसे एक लाख सोने की मुहरें देना पड़ेंगी, चुपके-से वापस लौट आया।

तैमूर के जाने के बाद सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिम भारत पर आक्रमण

किया। ओहिन्द के नगर पर कब्ज़ा करके उसके शासक फीरोज़ की बेटी से उसने शादी की। इसी लड़की से ज़ैनुलाब्दीन जैसा महान् पुत्र जन्मा। परन्तु ये दोनों घटनाएं उस समय हुई थीं, जब सिकन्दर को 'बुत-शिकन' की उपाधि नहीं मिली थी।

ज़ैनुलाब्दीन-बडशाह (१४२१–१४७२ ई०) काश्मीर के इतिहास में सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन सबसे महान् और गौरवपूर्ण नाम है। गद्दी पर बैठने के समय उसकी आयु यद्यपि केवल सत्रह वर्ष की थी, परन्तु वह अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि का बालक था और उसने बिना किसी संकोच के तुरंत देश में फैले अनाचार का दमन करना शुरू कर दिया। उसके बाप सिकंदर और भाई अलीशाह ने हिन्दू जनता के हृदय में जो घाव लगाए थे, उनको अपने कार्यों से उसने भर दिया। उसने समूची शासन-व्यवस्था को ही नये सिरे से संगठित किया।

सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन ने सबसे गौरवपूर्ण कार्य यह किया कि उसने सारी मानवता के लिए शान्ति और शुभेच्छा का एलान किया।

सिकन्दर 'बुतशिकन' के अत्याचारों के कारण देश में राज्य के विरुद्ध इतनी घृणा उत्पन्न हो गई थी कि जब ज़ैनुलाब्दीन के फोड़ा निकला तो कोई वैद्य या हकीम उसका इलाज करने को तत्पर न हुआ। अन्त में बड़ी कठिनाई के पश्चात् वैद्य सूर्यभट्ट ने सुल्तान को अच्छा किया। ज़ैनुलाब्दीन ने उसे प्रधान न्यायाधीश और सर्वोच्च खजान्ची नियुक्त किया और अपने सम्प्रदाय की दुर्दशा दूर करने के लिए प्रबंध करने का पूरा अधिकार दे दिया। राज-आज्ञा से हिन्दू धर्म-ग्रन्थों को नष्ट करने की क्रिया तुरत बन्द कर दी गई। जो ब्राह्मण देश छोड़कर भाग गए थे, उन्हें पुनः सम्मानपूर्वक बुलाया गया। उनकी जितनी ज़ायदाद हड़प ली गई थी, वह उन्हें वापस दिलाई गई। हिन्दुओं से पहले दो पल (चांदी की मात्रा) वार्षिक कर लिया जाता था, वह घटाकर पहले एक माशा कर दिया गया और बाद में एकदम हटा दिया गया। देवताओं को बलि चढ़ाना और तीर्थ-यात्रा करना जायज़ कर दिया गया। दाह-कर्म करने पर लगाई गई रोक भी हटा दी गई। स्कूल पुनः खोल दिये गए और हिन्दू लड़कों को अपने धर्म-ग्रन्थ पढ़ने की पुनः अनुमति मिल गई।

सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन धार्मिक सहिष्णुता का अपने जीवन में भी पालन करता रहा था। वह स्वयं हिन्दुओं के मंदिरों में जाता था, संस्कृत पढ़ता था और अपना अतिरिक्त समय 'योगवासिष्ठ' के पठन-पाठन में लगाता था। उसने हिन्दुओं के लिए मठ और मंदिर भी बनवाये।

उसने जेल-संबंधी सुधार किये, और काश्मीर के इतिहास में वह पहला सुलतान है जिसने जेल में उद्योग शुरू कराये। मिट्टी के बरतन आदि जेलों में बनाए जाने लगे। उसकी दूरदर्शिता का सबसे विलक्षण उदाहरण यह है कि पहले जरायमपेशा व्यक्तियों को तुरंत मृत्यु-दंड दिया जाता था, परन्तु ज़ैनुलाब्दीन ने उनसे बन्दोबस्त आदि के महकमों में मज़दूरों का काम लिया और उन्हें उपयोगी नागरिक बनाने की चेष्टा की। जेलों में सुधार करने के साथ-साथ उसने न्यायालयों में फैले भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी को एकदम बन्द कर दिया।

उसने कृषि-संबंधी जो सुधार किये उनके अनुसार भूमिकर की उचित दर नियत की गई। सोपुर के ज़ैनगीर-क्षेत्र में, जहां पर नई नहर से सिंचाई प्रारंभ हुई थी, पैदावार का सातवां भाग ही कर के रूप में लिया जाता था। बाहर से आयात की हुई वस्तुओं का दुकानदार मनमाना दाम लगाते थे। ज़ैनुलाब्दीन ने उनके दाम नियंत्रित कर दिये। इसी प्रकार स्थानीय पैदावार की चीज़ों के भाव भी राजाज्ञा द्वारा प्रतिमास नियत किये जाने लगे। इससे मुनाफ़ाख़ोरी बन्द हो गई। इस प्रकार उसने सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगी सुधार किये।

ज़ैनुलाब्दीन जाति-धर्म का भेद न मानकर विद्वानों का सम्मान करता था और उन्हें पुरस्कृत करता था। बौद्ध तिलकाचार्य उसका प्रधान मंत्री था, पंडित श्रीभट्ट उसका प्रधान न्यायाधीश था। सुल्तान स्वयं विद्याव्यसनी था और काश्मीर के अनेक विद्वान् उसके दरबार के रत्न थे। इस युग में काश्मीर का फ़ारसी-साहित्य भी विकास करने लगा। स्वयं सुल्तान ने संस्कृत के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद कराया। साथ ही उसने काश्मीरी-भाषा के साहित्य को भी प्रोत्साहन दिया। फलतः उत्तसोम और युद्धभट्ट ने काश्मीरी में सुल्तान की जीवनी लिखी, और भट्टावतार ने शाहनामा के ढंग पर ज़ैनविलास लिखा। उसने स्वयं फ़ारसी में दो ग्रन्थों का प्रणयन किया। पहली पुस्तक प्रश्नोत्तर के रूप में आतिश-बाज़ी का सामान बनाने से संबंध रखती है। दूसरी पुस्तक, जिसका नाम 'शिकायत' है, एक लम्बी कविता है जो उसने जीवन की विषम भाग्य-लेखा के प्रति क्षोभ और खेद से भरकर लिखी थी। उसके मंत्रियों और साथियों की मृत्यु ने उसे जीवन में अकेला छोड़ दिया था, और उसके पुत्र आपस में लड़कर उसके किये गए उपयोगी और जन-हितकारी कार्यों को मिट्टी में मिला रहे थे।

जोनराज और श्रीवर जैसे विद्वानों के अतिरिक्त उसके दरबार में कर्पूर भट्ट (वैद्य), रूपभट्ट (ज्योतिषी), रामानन्द (जिसने महाभाष्य की टीका लिखी),

और युद्धभट्ट जो सुहभट्ट के अत्याचारों के कारण महाराष्ट्र चला गया था और जहां उसने अथर्व-वेद का अध्ययन किया था, आदि विद्वान् थे। युद्धभट्ट ने अथर्ववेद की एक प्रति सुल्तान को भी दी, जिसने उसका प्रचलन करने के लिए पाठशालाएं खोलीं जिनमें राज्य के ख़र्च पर अथर्ववेद के अध्ययन की सुविधाएं दी गईं।

इतने विशाल और उदार दरबार का ख़र्च भी अधिक होना स्वाभाविक है। अतः देश की आय बढ़ाने के लिए उसने तांबे की खानों की खुदाई शुरू कराई, लद्दाख की नदियों से सोने की धूल को एकत्र करना शुरू करा दिया, और ऊसर पड़ी हुई विशाल करेवा-भूमि की स्थायी सिंचाई के लिए नहरें निकलवानी शुरू कीं। इससे राज्य की आमदनी बहुत बढ़ गई और कृषि-भूमि पहले से दुगनी हो गई।

इसके अतिरिक्त सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन ने देशी कलाओं और स्थापत्य को भी विशेष रूप से प्रोत्साहन दिया। उसने ज़ैनाक़दल बनवाया जो आज भी श्रीनगर का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग (पुल) है। उसने ज़ैनगीर नाम का नगर और वुलर झील में ज़ैन-लंका नाम से एक द्वीप बनवाया। श्रीनगर में उसका बनवाया अपनी मां का मक़बरा भी मौजूद है।

उसने काग़ज़ शॉल, कढ़ाई किये हुए परदे बनाने के कार्य को भी प्रोत्साहन दिया। ख़ुरासान से जुलाहे बुलाकर उसने देश में बसाये और रेशम का उद्योग शुरू कराया। उसके ही समय में सबसे पहले (सन् १४६६ ई० में) काश्मीर में बारूद के हथियारों का प्रयोग शुरू हुआ।

सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन ने सिंध और तिब्बत का एक भाग जीता था और आस-पड़ोस और दूर-दूर के सुल्तानों और राजाओं से उसकी मित्रता थी। ख़ुरासान का सुल्तान अबूसईद मिर्ज़ा, दिल्ली का बादशाह बहलोल लोदी, और गुजरात का सुल्तान महमूद उसके मित्र थे: मिश्र और मक्का के शासकों से उसका संबंध था, गंधार, रजौरी, जम्मू, और उत्तरी पंजाब की गक्खड़ जाति के प्रधान उसके अधीन थे। पंजाब के काफ़ी भाग पर आधिपत्य स्थापित करने में उसने जसरत खां गक्खड़ को मदद भी दी।

सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन अत्यन्त चरित्रवान व्यक्ति था। उसने केवल एक ही स्त्री से शादी की थी जिसके प्रति वह आजीवन वफ़ादार बना रहा। परन्तु उसके अन्तिम दिन सुखमय नहीं थे। वह एकान्तजीवन व्यतीत करने लगा था और श्रीवर के मुख से मोक्षोपाय के श्लोक सुनता रहता था। काश्मीरी सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन के गुणगान आज भी करते हैं, और उसे बडशाह (महान् बादशाह) कहकर पुकारते हैं।

सुल्तान ज़ैनुलाब्दीन के पश्चात् अगली एक शताब्दी तक काश्मीर के जीवन में अधिक उल्लेखनीय घटनाएं नहीं हुईं। इस बीच में लगभग २७ सुल्तानों ने राज्य किया, जिनमें से काशगर का मिर्ज़ा हैदर भी था। शासक और शासन नाम-मात्र के होते थे। हर व्यक्ति हथियार लेकर चलता था और जो ज्यादा पैसा देता था उसी सामन्त का साथ देता था। परन्तु लोगों में देश-भक्ति की चेतना जाग्रत हो गई थी जो मुहम्मदशाह के राजत्वकाल में सईदों के विरुद्ध विद्रोह के रूप में फूट पड़ी। सईद विदेशी थे और उन्होंने काश्मीरियों पर ख़ूब अत्याचार किये थे। जम्मू के राजा ने भी इस आन्दोलन को सहायता दी और यद्यपि सईदों ने पंजाब के लोदी सूबेदार तातार खां से मदद भी ली, लेकिन वे काश्मीरियों का मुकाबला नहीं कर पाये।

इस युग में मागरे और चक नाम की जातियों ने हथियार उठाए। मागरे काश्मीरी थे, परन्तु चक संभवतः दरद जाति के लोग थे जो काश्मीर में बहुत दिनों से आकर बसे हुए थे और एक प्रकार से काश्मीरी ही बन गए थे। देश की और दूसरी पार्टियां भी इन्हीं में सम्मिलित हो गईं और यहां पर शासन-सत्ता छीनने के लिए एक ज़बर्दस्त गृह-युद्ध शुरू हुआ, जो मुग़लों के आने पर ही समाप्त हुआ। सन् १५६० ई० से ही मागरे अपने मनोरथ में विफल होते जाते थे और ग़ाज़ी चक हबीबशाह को गद्दी से उतार कर स्वयं गद्दी पर बैठ गया।

फ़तेहशाह के समय में ईरान के शमशुद्दीन ने नूरबख्शी सम्प्रदाय चलाया। मिर्ज़ा हैदर ने उसका सख्ती से दमन किया। मिर्ज़ा हैदर मुग़ल था। उसने दो बार काश्मीर की विजय की, और १५४१ ई० से १५५१ ई० तक राज्य किया। सन् १५३३ में उसने जब पहला आक्रमण लद्दाख की ओर से किया था, उस समय वह काशगर के सिकन्दर ख़ाँ के साथ आया था। उसने श्रीनगर पर क़ब्ज़ा भी कर लिया था, परन्तु अन्त में संधि करके उसे तिब्बत की ओर पीछे हटना पड़ा। उसका दूसरा आक्रमण उस समय हुआ जब शेरशाह हुमायूं को हिन्दुस्तान से बाहर निकाल रहा था। इस बार उसने हुमायूं के लिए काश्मीर को जीता और उसके नाम के सिक्के जारी किये। मिर्ज़ा हैदर ने मध्य एशिया से आने वाले मुग़लों का इतिहास तारीख़-ए-राशीदी के नाम से लिखा जिसमें काश्मीर का भी संक्षिप्त हवाला आता है।

चक-वंश के संबंध में यहां विस्तारपूर्वक कुछ कहना व्यर्थ है। इस वंश के प्रथम सुल्तान ग़ाज़ीशाह ने काश्मीरी जनता पर जो ज़ुल्म ढाए उन पर सहसा विश्वास करना संभव नहीं है।

प्रसिद्ध कवियत्री हब्बाख़ातून का पति यूसुफ़शाह जो अन्तिम काश्मीरी सुल्तान था, मुग़लों की आधीनता स्वीकार करना चाहता था। परन्तु उसके मंत्रियों ने इसका विरोध किया और उन्होंने अकबर के दूत को साफ़ शब्दों में इन्कार कर दिया। अकबर ने राजा भगवानदास के साथ एक फ़ौज भेजी और एक संधि हो गई, जिसके अनुसार यूसुफ़शाह ने अकबर को ख़िराज देना स्वीकार कर लिया। परन्तु अकबर ने संधि की शर्तें नामंज़ूर कर दीं क्योंकि वह काश्मीर को हड़पना चाहता था, केवल ख़िराज लेकर ही सन्तुष्ट नहीं था। अतः उसने दूसरी फ़ौज भेजी। यूसुफ़शाह गिरफ्तार कर लिया गया और उसे बिहार प्रान्त में छोटी-सी जागीर देकर नजरबन्द कर दिया गया। उसके पुत्र याक़ूब ने बड़ी वीरतापूर्वक मुग़लों का मुक़ाबला किया, परन्तु मुग़लों ने परस्पर की फूट से लाभ उठाया और याक़ूब को भी गिरफ्तार करके बिहार भेज दिया। इस प्रकार सन् १५८७ ई० में काश्मीर विदेशियों के हाथ में चला गया, और उसकी आज़ादी का अन्त हो गया।

मुग़लों के आने से काश्मीर में शोषण का रूप आधुनिक और विदेशी हो गया। फलतः शासन-व्यवस्था भी मध्यकालीन व्यवस्था से बदल कर आधुनिक हो गई। अब काश्मीर एक महान् साम्राज्य का अंग था और एशिया के सबसे शानदार दरबार का विलास-उपवन। मुग़लों के सूबेदार शासन-कार्य में अधिक दक्ष और अनुभवी थे। अकबर के प्रधान इंजीनियर मुहम्मद क़ासिम ख़ाँ ने गुजरात, भिम्बर और शुपियान के मार्ग से एक विशाल राज-मार्ग बनवाया और इस प्रकार पीरपंजाल से होकर भारत और काश्मीर के बीच आवागमन और व्यापार को सुरक्षित और सुविधापूर्ण बना दिया। काश्मीर के एकान्तिक जीवन में यह एक क्रान्ति थी। काश्मीर पहली बार बाहर के विचारों और राजनीतियों के सम्पर्क में आया और अपनी आन्तरिक कलहों को भूल गया। अकबर ने यद्यपि काश्मीर को गुलाम बनाया था परन्तु उसका शोषणात्मक दमन और अत्याचार की धुरी पर नहीं टिका था। उसने अपनी शासन-नीति से उदार शासक होने की प्रसिद्धि पा ली और काश्मीरियों ने एक बार अपने नये बन्धनों को भूलकर अकबर का गुणगान भी किया।

आईने-अकबरी के लेखक अबुलफ़ज़ल और स्वयं जहाँगीर ने इस काल की घटनाओं का विस्तृत विवरण दिया है। अबुलफ़ज़ल ने काश्मीर की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यहां पर सारे मकान लकड़ी के हैं और चार या इससे भी ज्यादा मंज़िल के हैं। जानवर नीचे की मंज़िल में बांधे जाते हैं और यहां गोदाम भी रहता है। दूसरी मंज़िल में परिवार रहता है और तीसरी-चौथी मंज़िलों में घर की

अन्य अस्थावर सम्पत्ति (बर्तन-भांडे, कपड़, नाज, लकड़ी आदि) रहती है। लकड़ी की बहुतायत है। अक्सर आने वाले भूकम्पों के कारण पत्थर या मिट्टी के मकान नहीं बनाए जाते। परन्तु प्राचीन मन्दिर आश्चर्य-चकित कर देते हैं। इस समय उनमें से अधिकतर ध्वंस हो चुके हैं। ऊनी कपड़े अत्यन्त सुन्दर बनते हैं, विशेषकर शॉल अनुपम होते हैं, और अन्यान्य देशों में उपहार के रूप में भेजे जाते हैं। 'परन्तु इस देश के लोग ही इसका अभिशाप हैं। तो भी, आश्चर्य की बात है कि जन-संख्या की अधिकता और आजीविका कमाने के साधनों की कमी के बावजूद भीख मांगना या चोरी करना विरल है।" कश्मीर के अनेक फलों का वर्णन करते हुए अबुलफ़ज़ल ने लिखा है कि शहतूत खाये भी जाते हैं और उन पर रेशम के कीड़े भी पलते हैं। रेशम के अंडे गिलगित और तिब्बत से लाये जाते हैं। लोग चावल खाते हैं, और गोश्त और कई प्रकार की तरकारियां भी। तरकारियों को लोग सुखा-कर रख लेते हैं, और चावल भी पकाकर खाने के लिए रात-भर रखा जाता है। लोग शराब भी पीते हैं। पहनने के कपड़े अक्सर ऊनी होते हैं। यहां पर अनेक प्रकार के दस्तकार हैं जो हस्त-कौशल और नैपुण्य के कारण संसार के किसी भी नगर की शोभा बढ़ा सकते हैं। बाज़ार या हाट का चलन कम है क्योंकि व्यापार अपने ही स्थानों पर किया जाता है। झीलों में लोग अपनी डोंगियों में बैठकर सैर करते हैं और उनके बाज़ जंगली मुरगों या जलमुरग़ाबियों को बीच हवा में ही पकड़कर नाव पर ले आते हैं।

सामान नावों के ज़रिये लाया-ले जाया जाता है। दुर्गम प्रदेशों में आदमी बोझ उठाकर ले जाते हैं। हांजियों (नाव वालों) और नखानों (बढ़इयों) का व्यापार ख़ूब चलता है। ब्राह्मणों की संख्या बहुत है। "और यद्यपि कश्मीर की अपनी अलग भाषा है, ब्राह्मणों की पुस्तकें संस्कृत में होती हैं। उनकी अपनी अलग लिपि है, जिसमें पाण्डुलिपि तैयार की जाती हैं। ब्राह्मण बहुधा तुज़ पर लिखते हैं जो एक वृक्ष की छाल होती है।...मुसलमानों में संकुचित विचारों के, अंधपरंपरा के अनुयायी सुन्नी सम्प्रदाय के कठमुल्लों की अक्सरियत है, थोड़े-से इमामी और नूरबख्शी भी हैं जो आपस में निरंतर झगड़ते रहते हैं। ये लोग विशेषकर फारस और तुर्किस्तान से आये हैं...देश में सबसे भद्रवर्ग ब्राह्मणों का है।

अबुलफ़ज़ल के अनुसार श्रीनगर में उस समय ऊनी कपड़े, शॉल, दुरमू, पट्टू आदि बुने जाते थे। डल झील पर तैरते हुए द्वीप बनाये गए थे जिन पर आजकल के समान ही खेती होती थी। पॉम्पुर और परसपुर में केसर बोई जाती थी।

राज-कर के संबंध में अबुलफ़ज़ल का कहना है कि पैदावार की जाँच करने:

के बाद उसकी बाँट करके मालगुज़ारी एकत्र करने की व्यवस्था है। इसके विशेष निर्ख हैं। दाम देकर व्यापार करने की प्रथा नहीं है। सायरजात (मालगुज़ारी के अतिरिक्त अन्य छिट-पुट कर) का कुछ भाग नक़दी के रूप में लिया जाता है। सिक्कों या काम के रूप में उजरत की क़ीमत शाली (धान) के खरवार (लगभग दो मन) के रूप में गिनी जाती है। और यद्यपि किसानों से पैदावार का एक-तिहाई हिस्सा लेने की प्रथा बहुत दिनों से चली आती है, वस्तुतः उनसे दो हिस्से वसूल किए जाते हैं। इस प्रकार काश्मीर-राज्य की आय उस समय ७४६७०४११ दाम (१८६६७६६ रु० ४ आने ४ पाई) थी।

अकबर तीन बार काश्मीर आया। वह इस देश पर इतना मोहित था कि इसे वह अपना व्यक्तिगत उपवन कहकर पुकारता था। उसने हिन्दुओं पर लगे 'मुण्ड-कर' को रद्द कर दिया। उनकी ज़मीनें वापस करा दीं और यहां पर इस्तमरारी बन्दोबस्त कराया। इन कार्यों को आज भी उच्चवर्ग कृतज्ञतापूर्वक याद करता है। काश्मीर में अकबर हरीपर्वत के विशाल परकोटे के रूप में अपना स्थायी स्मारक छोड़ गया है। इसे उस समय 'नगरनगर' का किला कहते थे। वहां उसकी फ़ौजी छावनी थी।

जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में काश्मीर मुग़ल-साम्राज्य का विलास-उपवन बन गया।

फ्रांसीसी चिकित्सक बर्नियर सन् १६६४ ई० में औरंगज़ेब के साथ काश्मीर आया था, और उसने अपने विवरण में उस समय के काश्मीर का सविस्तार वर्णन किया है। उसने काश्मीरी और मुग़ल कवियों की एक प्रतियोगिता भी देखी थी। काश्मीर पहुंचने पर औरंगज़ेब ने दोनों देशों के कवियों से अपनी प्रशंसा में कविताएं सुनीं और उन्हें पुरस्कृत किया।

बर्नियर के अनुसार काश्मीरी विनोदप्रिय होते हैं, और भारतीयों की अपेक्षा अधिक तीव्र-बुद्धि के हैं। कविता और विज्ञान में फ़ारस के निवासियों से पीछे नहीं हैं। वे सक्रिय और परिश्रमी भी हैं। उनकी पालकियों का सौन्दर्य और पलंगों, बक्सों, क़लमदानों, चम्मचों और दूसरी चीज़ों पर की गई नक़्क़ाशी अनुपम है। और उनकी बनाई चीज़ों का सारे भारत में प्रयोग होता है। पालिश करने वाले अपनी कला में विलक्षण रूप से निपुण हैं। सोने का काम अपनी पूर्णता की चरम-सीमा को पहुंच गया है। परन्तु यहां सबसे ज्यादा शॉल बनते हैं, और इस उद्योग में बच्चे भी काम करते हैं।

बर्नियर के अनुसार काश्मीरी औरतें अपने रंग-रूप और मादक सौन्दर्य के

लिए प्रसिद्ध हैं। यूरोपीय लोगों की तरह उनके शरीर की गठन भी सुन्दर होती है। उनकी नाक न तातारों की तरह चिपटी होती है और न उनकी आँखें काशगर के लोगों-जैसी छोटी होती हैं। मुग़ल दरबार में दाख़िल होते समय प्रत्येक व्यक्ति अक्सर काश्मीरी पत्नी या रखैल तलाश करता है, ताकि उसके बच्चे सुन्दर और गोरे हों और सच्चे मुग़ल समझे जायं।

अकबर अपने साथ राजा टोडरमल को काश्मीर लाया था। टोडरमल ने 'पटन' में अपना कैम्प जमाया और देश की सारी ज़मीन नापी और मालगुजारी की दर निश्चित की।

जहाँगीर ने शालामार, चश्माशाही, निशात, नसीम बाग़ और इच्छाबल और वेरीनाग के बाग़ लगवाए। उसने सन् १६२० ई० में किश्तवाड़ के राजा को पराजित करके किश्तवाड़ की घाटी को भी मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

शाहजहाँ भी कई बार काश्मीर आया था। उसने केसर और लकड़ी तथा भेड़ और हाँजियों पर से टैक्स हटा दिया था। शाहजहाँ के समय में तिब्बत भी मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया गया (सन् १६५१)।

मुग़ल साम्राज्य के ह्रास के साथ-साथ काश्मीर की सभ्यता का भी ह्रास होने लगा। सन् १७३९ ई० में नादिरशाह ने काश्मीर को काबुल की सल्तनत में मिला लिया और महाराजा रणजीतसिंह की काश्मीर-विजय (सन् १८१९ ई०) के समय तक वह अफ़गानों के आधिपत्य में रहा।

सन् १७५३ ई० में अहमदशाह दुर्रानी के नेतृत्व में अफ़गानों ने काश्मीर-विजय की। अंग्रेज़ सैनिक लारेंस ने इस काल का पूरा विवरण दिया है। उसने लिखा है कि वह क्रूरता, नृशंसता और निरंकुशता का युग था। हर तरफ़ अराजकता फैली हुई थी। लारेंस के विवरण से यह भी सिद्ध है कि पठानों और अफ़गानों ने केवल हिन्दुओं पर ही अत्याचार किये हों, ऐसी बात नहीं है, नहीं तो हिन्दू राजा सुखजीवन सन् १७७४ ई० में काश्मीर का गवर्नर नहीं बनाया जाता, न दिलाराम कुली को दीवान ही नियुक्त किया जाता, न पंडित नंदराम टिक्कू काबुल का प्रधान-मंत्री बनता और न जैराम भान को बाद में दीवान बनाया जाता। उस समय इन गवर्नरों पर ही निर्भर करता था कि हिन्दुओं के प्रति राज्य की नीति क्या हो, क्योंकि गवर्नर उन दिनों अपने स्वामी की बात न सुनकर स्वयं ख़ुदमुख्तार बनने की कोशिश करते रहते थे। अतः अफ़गान राज्य में काश्मीर में जो अत्याचार हुए, उनका बहुत बड़ा दायित्व तत्कालीन गवर्नरों पर भी है। परन्तु इतना निश्चित है कि पठान या अफ़गान राज्य में काश्मीर की जनता की लूट-खसोट इतनी निर्दयता

और निरंकुशतापूर्वक हुई कि जनता त्राहि-त्राहि कर उठी।

सन् १८१४ ई० में पंजाब के सिख महाराजा रणजीतसिंह ने काश्मीर पर आक्रमण किया, परन्तु असफल रहा। इसके बाद सन् १८१९ ई० में जब काश्मीर के एक प्रतिष्ठित पंडित बीरबल दर ने, जो राज-दरबारी भी थे, महाराजा रणजीतसिंह से अपनी दुर्दशा के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की तो महाराजा रणजीतसिंह ने सुअवसर हाथ लगा सोचकर आक्रमण कर दिया और इस बार वह अमीर दोस्त-मोहम्मद को परास्त करके काश्मीर को सिख-साम्राज्य के अन्तर्गत मिलाने में सफल हो गया।

सन १८१९ ई० से १८४६ ई० तक काश्मीर पर सिखों का आधिपत्य रहा। परन्तु उनके आने से काश्मीरी जनता की दुर्दशा रंचमात्र भी कम न हुई। रणजीतसिंह या उसके उत्तराधिकारियों ने काश्मीर की आन्तरिक शासन-व्यवस्था को सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उनके नियुक्त किये हुए गवर्नर खुले-बन्द अत्याचार करते थे। विलियम मूरक्राफ्ट ने जो सन १८२४ ई० में काश्मीर आया था, लिखा है कि "सिख काश्मीरियों को पशुओं से अधिक अच्छा नहीं समझते थे। अगर कोई सिख किसी काश्मीरी की हत्या कर देता था तो सरकार उस पर केवल सोलह या बीस रुपया जुर्माना करती थी जिसमें से यदि मृत व्यक्ति हिन्दू हुआ तो उसके परिवार को चार रुपये और यदि मुसलमान हुआ तो दो रुपये मिलते थे।" मूरक्राफ्ट का कहना है कि लोगों पर अनेक नाजायज कर लगे हुए थे और उनका निर्दयतापूर्वक शोषण किया जाता था।

जिस समय सन १८४६ ई० में जम्मू के डोगरा राजा गुलाबसिंह ने काश्मीर को खरीदा उस समय काश्मीरी साहित्य, कला-कौशल, दस्तकारी, व्यापार आदि का ह्रास हो रहा था। पठानों और सिखों के राज्य में सरकार की तरफ से काश्मीरी संस्कृति को किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिया गया था। शासकों की अभिरुचि यदि किसी ओर थी तो केवल 'बाज' (कर) वसूल करने की ओर, अन्य बातों की उन्हें कोई परवा नहीं थी। मूरक्राफ्ट के अनुसार उस समय अकेले श्रीनगर में सवा लाख कारीगर शॉल बनाने के उद्योग में लगे थे, परन्तु जब सिखों ने भारी कर लगाए तो यह उद्योग चौपट होने लगा। किसानों की पैदावार का अधिकांश भाग सरकार ले लेती थी और बाकी पर सरकारी कर्मचारी भूखे बाज की तरह झपट पड़ते थे। किसानों से उनके खेत छिन चुके थे और जिस समय डोगरा राज्य स्थापित हुआ उस समय तक काश्मीर में ३११५ जागीरें बाँटी जा चुकी थीं। ये जागीरें दुखी और पीड़ित किसानों के असन्तोष को दबाने के लिए सरकारी

पिट्ठुओं को दी गई थीं। किसान बेगार और कर देते-देते भूख और ग़रीबी से तबाह हो रहे थे।

सन् १८३९ ई० में महाराज रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद जो लोग उसके उत्तराधिकारी बने उनमें सिख साम्राज्य को एक सूत्र में बांधकर रखने की योग्यता और शक्ति नहीं थी। जम्मू का प्रदेश भी उन दिनों सिख साम्राज्य का ही अंग था, और वहां के राज-कुटुम्ब का एक सरदार गुलाबसिंह महाराज रणजीतसिंह के यहां सन् १८१२ ई० से ही नौकर था। कुछ समय के भीतर गुलाबसिंह रणजीतसिंह के दरबार में उच्चपद पाकर प्रभावशाली व्यक्ति बन गया। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद वह जम्मू लौट आया और यहां पर पर्वत-प्रदेशों में अपने राज्य का विस्तार करने में संलग्न हो गया। जम्मू और काश्मीर की घाटी के बीच में स्थित छोटे-छोटे राजाओं को परास्त करके उसने जम्मू राज्य में मिला लिया और अपने सेनापति वज़ीर ज़ोरावरसिंह की सहायता से उसने बल्तिस्तान और लद्दाख के प्रदेश भी हस्तगत कर लिये। (सन् १८३४ से १८४२ के बीच।)

दूसरी तरफ़ गुलाबसिंह ने अंग्रेज़ों को भी सहायता दी। और जब सन् १८४५ ई० में अंग्रेज़ों और सिखों में युद्ध छिड़ गया, तो उस समय लाहौर के दरबार ने गुलाबसिंह को बुलाया और सन् १८४६ में उसे सिख-साम्राज्य का प्रधान मंत्री भी नियुक्त किया, परन्तु गुलाबसिंह महाराज रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद से ही इस घात में था कि किसी प्रकार अपने लिए एक राज्य हस्तगत कर ले, इसलिए वह सिख-साम्राज्य का प्रधान मंत्री बनने के पहले से ही अंग्रेज़ों से मिलकर साज़बाज़ कर रहा था। कनिंघम का तो यहाँ तक कहना है कि सिखों की पराजय कराने के लिए उसने अंग्रेज़ों के साथ षड्यन्त्र रचा था। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि सुबरांव के युद्ध में गुलाबसिंह ने सिख फ़ौजों को धोखा दिया था, जिससे सिख परास्त हो गए और अंग्रेज़ों ने आगे बढ़कर लाहौर पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद ९ मार्च १८४६ ई० में लाहौर की संधि हुई, जिसमें एक शर्त यह भी थी कि अंग्रेज़ अपने स्वामिभक्त पिट्ठू गुलाबसिंह की वफ़ादारी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए उसे पहाड़ी इलाकों का स्वतंत्र राजा मानने के लिए उससे एक अलग संधि करेंगे। यह अलग संधि इतिहास में 'अमृतसर की संधि' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस संधि के अनुसार सिख दरबार और अंग्रेज़ों ने गुलाबसिंह को जम्मू और काश्मीर का महाराजा स्वीकार कर लिया और इसके बदले में गुलाबसिंह को केवल १५ लाख पौंड देने पड़े। काश्मीरी जनता से इस संबंध में कोई पूछताछ नहीं

की गई और उनकी पीठ-पीछे उनकी क़िस्मत का सौदा किया गया। काश्मीर में गिलगित, बल्तिस्तान और लद्दाख तक का इलाक़ा सम्मिलित किया गया। इस प्रकार ७५ लाख रु० और वार्षिक ख़िराज के रूप में एक घोड़ा, बारह शॉल के बालोंवाली बकरियां और तीन जोड़े काश्मीरी शॉल देकर गुलाबसिंह ने अंग्रेज़ों से काश्मीर और सीमान्त प्रदेशों को सर्वदा के लिए ख़रीद लिया। अंग्रेज़ों ने सिखों की ताकत कम करने के लिए यह सौदा किया था।

गुलाबसिंह अत्यन्त लालची महाराजा था। उसने राज्य की जनता पर अन्यायपूर्ण कर लगाए, और हर प्रकार से जनता का अधिक से अधिक शोषण करने की कोशिश की। झूठ बोलने, साज़िशें करने और मिलकर दगा देने में तो वह सिद्धहस्त था। सन १८५७ के विद्रोह को दबाने के लिए उसने अंग्रेज़ों की तरफ़ से फौजें भेजीं। उसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई।

गुलाबसिंह का पुत्र रनबीरसिंह भी अंग्रेज़ों का अनन्य भक्त था। सन ५७ के विद्रोह की समाप्ति के बाद उसने गिलगित और उसके पास के उत्तरी इलाकों की ओर ध्यान दिया। गुलाबसिंह के समय में यह प्रदेश विद्रोह करके स्वतंत्र हो गया था। रनबीरसिंह ने इन इलाकों को पुनः अपने कब्ज़े में लाने के लिए फौजें भेजीं और कुछ वर्षों में ही हुंज, नगर, पुनियाल और यासीन और दरेल काश्मीर-राज्य में मिला लिये गए।

सिखों की ताकत छिन्न-भिन्न हो चुकी थी, इस कारण उत्तर में एक सशक्त महाराजा की अब अंग्रेज़ों को ज़रूरत नहीं रही थी, और काश्मीर और गिलगित का महत्व बढ़ गया था; अत: अंग्रेज़ों ने राज्य पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए काश्मीर में अपना रेज़ीडेन्ट रखने की मांग की। अमृतसर की संधि में रेज़ीडेन्ट का ज़िक्र नहीं है, इसलिए रनबीरसिंह ने इस मांग को स्वीकार नहीं किया। सीधी उंगली से घी निकलता न देख अंग्रेज़ों ने अपने पुराने हथकंडे चलाने शुरू किये। उन्होंने रनबीरसिंह पर दोष लगाया कि उसके राज्य में कोई व्यवस्था और क़ानून नहीं है और वह अपनी प्रजा पर अत्याचार करता है। वस्तुत: रनबीरसिंह गुलाबसिंह की अपेक्षा अधिक उदार प्रकृति का शासक था, और यद्यपि जनता की लूट-खसोट उसके राज्य में भी पूर्ववत जारी थी, परन्तु अंग्रेज़ों का इलज़ाम अपना उल्लू सीधा करने के लिए था, प्रजा-हित की भावना से प्रेरित नहीं था।

रनबीरसिंह के राज्य में सन् १८७२ ई० में एक भयानक शिया-सुन्नी दंगा हुआ और सन् १८७७ ई० में अत्यधिक वर्षा होने के कारण काश्मीर में एक

ज़बर्दस्त अकाल पड़ा जिसमें हज़ारों व्यक्ति भूख से मर गए और सैकड़ों गांव वीरान हो गए।

सन् १८७८ के अफ़ग़ान-युद्ध के समय यद्यपि रनवीरसिंह ने अपनी स्वामि-भक्ति का परिचय देने के लिए अंग्रेज़ों की सहायतार्थ फ़ौज भेजी थी, परन्तु अंग्रेज़ों को गिलगित की चिन्ता बढ़ गई थी। अपने साम्राज्यी हितों की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार गिलगित में अपना फ़ौजी अड्डा बनाना चाहती थी और काश्मीर में अपना राजनीतिक रेज़ीडेन्ट रखना चाहती थी। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने सन् १८८४ में रनवीरसिंह की मृत्यु के समय अवसर पाकर पुनः काश्मीर की जनता का नाम लेकर महाराजा पर दुर्व्यवस्था, पक्षपात, अन्याय और कुशासन का दोष मढ़ा। साथ ही ब्रिटिश सरकार ने काश्मीर की बहुसंख्यक मुसलमान जनता के हितों की रक्षा के लिए हिन्दू राजा के विरुद्ध हस्तक्षेप करने की अनिवार्य आवश्यकता महसूस की। इस प्रकार अंग्रेज़ों ने अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए सन् १८८४ ई० में ही यहां हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष का बीज बोना शुरू कर दिया। काश्मीर की मुस्लिम जनता को कुछ भी पता नहीं था कि अंग्रेज़ अपना मतलब गांठने के लिए उन्हें मोहरे की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं।

रनवीरसिंह की मृत्यु के तुरन्त बाद भारत सरकार की ओर से एक राज-नीतिक एजेन्ट काश्मीर-राज्य में नियुक्त कर दिया गया। इसके पश्चात् काश्मीर में अंग्रेज़ों को साज़िशें करने की खुली छूट मिल गई और कुछ दिनों में अंग्रेज़ों का राजनीतिक रेज़िडेन्ट काश्मीर में सर्वशक्तिमान बन गया। अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए अंग्रेज़ सरकार की काश्मीर पर लालच-भरी निगाहें टिकी थीं। देशी राज्यों में कुशासन और दुर्व्यवस्था तो हर जगह हर समय रही है, परन्तु अंग्रेज़ों को उसका पता तभी चलता था, जब उनके साम्राज्यी-स्वार्थ उनके हस्तक्षेप को अनिवार्य बना देते थे। काश्मीर को हस्तगत करके इसे ब्रिटिश फ़ौजों की छावनी बनाने की उनकी योजनाएं बहुत पुरानी हैं और आज भी काश्मीर के विरुद्ध साम्राजियों के षड्यन्त्र इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रचे जा रहे हैं।

ब्रिटिश साम्राज्य के स्वार्थों की देखभाल करने के लिए एक पोलिटिकल एजेन्ट सन् १८७७ ई० से ही गिलगित में नियुक्त किया जाने लगा था। सन् १८८१ में यह एजेन्सी स्थगित कर दी गई, परन्तु सन् १८८६ में पुनः स्थापित की गई। इस बार रेज़ीडेन्ट गिलगित और उसके आस-पास के प्रदेशों का अधिपति बन गया और तब से वह केवल भारत सरकार के ही अधीन रहा। गिलगित और अन्य प्रदेशों के लोग पिछड़े अवश्य हैं, परन्तु फिर भी उन्होंने अंग्रेज़ रेज़ीडेन्ट की

अधीनता चुपचाप नहीं सहन कर ली। अनेक बार उन्होंने स्वाधीन होने की चेष्टा की और विद्रोह किये।

डोगरा राज्य के प्रारंभिक दिनों में काश्मीरियों की आर्थिक दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि इस काल में बाह्य-शान्ति बनी रही, परन्तु यह शान्ति अंग्रेज़ों और डोगरा महाराजों की फौज-पुलिस द्वारा स्थापित की गई शान्ति थी और इस शान्ति के आवरण के नीचे जनता का निर्दय शोषण किया जाता था। जनता दिन-प्रतिदिन और ग़रीब होती गई। केवल उच्चवर्गों को और विशेषकर हिन्दू-जाति के उच्चवर्ग को अपनी स्थिति मजबूत करने का अवसर मिल गया। खेती में कोई सुधार नहीं हुआ, और पठानों या सिक्खों के समय में जितना अधिक भूमि-कर था, उतना ही बना रहा। रिश्वतखोरी और निहत्थे लोगों पर अत्याचार पहले की ही तरह बदस्तूर जारी रहे। राज्य के खेतों पर बेगार ली जाती रही। सरकार के हर विभाग में भ्रष्टाचार का बोलबाला था, और राजकर्मचारियों के विरुद्ध कोई सुनवाई नहीं होती थी। गांवों में हरकारे व ज़िलेदार पुलिस और जासूसों का काम करते थे और मनमानी रिश्वत लेते थे। यहां तक कि एक बार हकूमत ने भी उनकी रिश्वत में से हिस्सा बँटाना शुरू कर दिया। बेगार आम तौर पर ली जाती थी और अंग्रेज़ तक बेगार की प्रथा को जायज़ बनाकर उससे लाभ उठाते थे।

सन् १८८५ में महाराजा प्रतापसिंह ने गद्दी पर बैठते ही कुछ सुधारों की घोषणा की। राज्य की ओर से खेती करने की व्यवस्था रद्द कर दी गई, चावल पर से चुंगी-कर हटा दिया गया और हरकारों का संगठन तोड़ दिया गया, घोड़ा बेचने पर जो पचास फ़ीसदी के लगभग कर लिया जाता था उसमें कुछ कमी कर दी गई। आगे चलकर प्रतापसिंह ने सर वाल्टर लारेंस को भूमि का स्थायी बन्दोबस्त करने का काम सौंपा। अत्यधिक करों और राजकर्मचारियों की लूट के कारण अधिकांश किसानों ने खेती करना छोड़ दिया था। लारेंस ने उन्हें पुनः समझा-बुझाकर खेती के काम में लगाया। ज़मीनें किसानों में बांट दी गई, परन्तु चाहे चकदार हो या किसान उसकी ज़मीन का मालिक महाराजा ही था और उसकी स्थिति एक अस्थायी काश्तकार की ही थी। बहुत थोड़े लोगों को ही मौरुसी हक़ दिया गया। परन्तु उन्हें भी अपनी ज़मीनों को बेचने या गिरवी रखने का हक़ नहीं था, ऐसा हक़ केवल काश्मीर के नगरों में लोगों को प्राप्त था। परन्तु मीरपुर, बसोली और राजनगर की तहसीलों को छोड़कर जम्मू के सूबे में किसान अपनी जमीन का मालिक बना दिया गया। यहां पर किसान मालगुज़ार होता था

और अपनी इच्छानुसार ज़मीन को बेच या गिरवीं रख सकता था। डोगरा-राज्य ने इस प्रकार डोगरों के प्रति पक्षपात का व्यवहार किया। डोगरा-राज्य में प्रथम बार काश्मीरियों ने अपनी ज़मीनों का स्वामित्व खो दिया। बेगार की प्रथा यद्यपि क़ानून से मिटा दी गई, परन्तु व्यवहार में ज्यों-की-त्यों चलती रही। पहले बन्दोबस्त के समय जो ज़मीनें बाक़ी बच रहीं वे 'खालसा' (अर्थात् राज्य की) घोषित कर दी गईं। भूमि-कर फिर भी इतना अधिक नियत किया गया कि किसान की दशा पहले से बिगड़ती ही गई।

परन्तु डोगरा राज्य में सबसे ज्यादा दुर्दशा काश्मीर की दस्तकारियों और कलाओं की हुई। सुलतान ज़ैनुलआब्दीन ने काश्मीर में शॉल, रेशम और पेपरमेशी आदि के उद्योग शुरू कराये थे। सुलतानों के शासन में और यहां तक कि पठानों के शासन में भी ये उद्योग उन्नति करते रहे। डोगरा-राज्य के स्थापित होने के पूर्व केवल शॉल के उद्योग से काश्मीरी लगभग ५० लाख रुपये का व्यापार करते थे और लाखों व्यक्ति इस उद्योग में लगे थे। परन्तु जिस समय वर्तमान महाराजा हरीसिंह सन् १६२५ में गद्दी पर बैठा उस समय तक यह उद्योग काश्मीर में चौपट हो चुका था। यूरोप और भारत के बाज़ारों में काश्मीरी शॉल की बेहद खपत थी, परन्तु डोगरा राज्य में यह व्यापार ख़त्म-सा हो गया। हज़ारों शॉल बुनने वाले कारीगर काश्मीर छोड़कर लाहौर, अमृतसर और आगरे में जा बसे।

दूसरे छोटे उद्योगों का भी यही हाल हुआ। प्रतापसिंह के समय में काग़ज बनाना एकदम बन्द हो गया। यही हाल कपास की पैदावार का भी हुआ। गब्बा, नमदा और पट्टू बनाने के काम को भी कोई प्रोत्साहन नहीं दिया गया, और अलंकार की कलाओं—जैसे चांदी का काम और पेपर-मेशी की चीज़ों का भी ह्रास होता गया। फलतः डोगरा-राज्य में काश्मीर जो एक आत्म-निर्भर देश था, अब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य देशों पर निर्भर करने लगा। इससे काश्मीरियों की ग़रीबी का बढ़ना स्वाभाविक था।

इसके अतिरिक्त डोगरा-राज्य में अंग्रेज़ों की देखरेख में शासन-व्यवस्था एक नियंत्रित और सुगठित नौकरशाही के हाथ में आ गई। पंजाब से शिक्षित लोग बुलाये गए और बड़ी-बड़ी नौकरियां और दूसरी सुविधाएं उनको दी गईं। दफ्तरों में इन विदेशियों का प्रभुत्व छा गया। इससे एक ओर यदि जनता आर्थिक शोषण के कारण त्राहि-त्राहि कर रही थी, तो दूसरी ओर काश्मीर का उच्चवर्ग शासन-व्यवस्था में विदेशियों के प्रभुत्व से क्षुब्ध हो रहा था। इसके बाद मुल्की और ग़ैर-मुल्की का प्रश्न उठा और एक लम्बे काल तक इस संबंध में आन्दोलन चलता

रहा कि काश्मीर में विदेशियों के साथ पक्षपात न किया जाय। कई बार इस बात की परिभाषा बनाने की कोशिश की गई कि किसे रियासती प्रजा समझा जाय। इस आन्दोलन को विशेषकर इस कारण अधिक प्रोत्साहन मिला कि इस शताब्दी के प्रारंभ में काश्मीर में एक कालेज की स्थापना हो गई थी और उच्चवर्ग के कुछ हिन्दू और मुसलमान पढ़-लिखकर किंचित् जागरूक और सचेत होने लगे और उनमें जातीयता की भावना जगने लगी। मुसलमानों में विशेषकर क्षोभ था कि उनके सम्प्रदाय के नौजवानों को आगे बढ़ने का कोई अवसर नहीं दिया जाता और वे उच्च-शिक्षा और उन्नति के प्रत्येक पथ से वंचित रखे जाते हैं। उनकी मांग के सामने झुककर महाराजा प्रतापसिंह को सन् १६१६ में शिक्षा-विभाग की ओर से बरती जाने वाली भेद-नीति की जांच करने के लिए भारत सरकार के शिक्षा-कमिश्नर मि० शार्प को बुलाना पड़ा। मिस्टर शार्प ने अपनी जांच के बाद जो रिपोर्ट दी, वह पन्द्रह वर्ष तक दफ्तर की अलमारी में पड़ी सड़ती रही; उसके सुझावों के अनुसार कोई कार्य नहीं किया गया। इससे मुसलमानों का न्यायपूर्ण क्षोभ और बढ़ता गया। सरकारी नौकरियों में यद्यपि काश्मीरी पंडितों को क्लर्की की जगहें मिलने लगी थीं, परन्तु मुसलमान उनसे वंचित ही रखे जाते थे।

अंत में वर्तमान महाराजा हरीसिंह के गद्दी पर बैठने (सन् १६२५) के बाद काश्मीर रियासत की प्रजा की परिभाषा निश्चित की गई। इस परिभाषा के अनुसार सन् १६२७ में यह नियम बन गया कि जो लोग महाराजा गुलाबसिंह की हकूमत के शुरू होने के पहले यहां के निवासी थे अथवा जो सन् १८८५ से पहले आकर काश्मीर में बस गए थे, वे लोग ही रियासत की प्रजा समझे जायंगे। इस परिभाषा के परिणाम-स्वरूप पंजाब और दूसरे प्रान्तों से नौकरी की तलाश में लोगों का आना बन्द हो गया, यद्यपि जो लोग यहां नौकरियों या व्यापार में लगे हुए थे, उन्होंने अनेक प्रकार की चालें चलकर इस नियम का उल्लंघन करने के मार्ग निकाल लिये।

एक ओर इस नियम से यदि लोगों में संतोष उत्पन्न हुआ तो दूसरी ओर महाराजा हरीसिंह की भेद-नीति के कारण क्षोभ और बढ़ गया। हरीसिंह ने गद्दी पर बैठने के बाद काश्मीर में जम्मू के राजपूतों को हर प्रकार से विशेष प्रोत्साहन दिया। फलतः राज्य के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष राजपूत होने लगे। योग्यता की कसौटी नहीं रखी गई। फ़ौज में केवल डोगरे ही भरती किये जाने लगे। इस प्रान्तीय और जातीय पक्षपात की नीति ने आग में घी का काम किया। महाराजा प्रतापसिंह के समय में गरमियों की राजधानी श्रीनगर था और जाड़ों की राजधानी

जम्मू का नगर था, परन्तु हरीसिंह ने जम्मू को ही अपनी स्थायी राजधानी बनाने का निश्चय किया। इससे काश्मीर और श्रीनगर का राजनीतिक महत्व ही कम होने की आशंका न थी, बल्कि घाटी के व्यापार को भी धक्का पहुंचने की जबर्दस्त संभावना थी। इस कारण महाराजा हरीसिंह के इस निर्णय के विरुद्ध प्रतिवाद का तूफ़ान उमड़ पड़ा और अन्त में महाराजा को अपना निर्णय बदलना पड़ा।

जब सरकारी दफ्तरों में, फौज और दूसरे महकमों में ऊंचे-ऊंचे पदों पर केवल डोगरे ही रखे जाने लगे और योग्य और शिक्षित काश्मीरी पंडित और मुसलमान जान-बूझकर उनसे वंचित किये गए, तब काश्मीर में असन्तोष की व्यापक लहर फैल गई। कतिपय नौजवानों ने, जिनमें शेख मुहम्मद अब्दुल्ला भी थे, फ़तहक़दल में एक वाचनालय खोला। इस वाचनालय की तरफ़ से महाराजा की सरकार को नौकरियों के संबंध में बरती जानेवाली पक्षपातपूर्ण नीति रद्द करके मुसलमानों को ५० फ़ीसदी नौकरियां देने के लिए पत्र और प्रस्ताव भेजे जाने लगे। इस वाचनालय के सदस्यों ने धीरे-धीरे सारी रियासत के आधार पर संगठन करने का निश्चय किया।

परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन सन् १९३१ में जिस अनपेक्षित तीव्रता से एक विशाल विप्लव के रूप में फूट पड़ा, इसकी कल्पना उस समय सरकारी नौकरियों के लिए लड़ने वाले, इन मध्यवर्गी नौजवानों ने नहीं की थी। जनता ने शख्सी राज और सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध ज़बर्दस्त प्रदर्शन केवल इसीलिए किये कि सदियों से काश्मीरी इस व्यवस्था की गुलामी में अपने रक्त का शोषण कराते आये थे, परन्तु अब उनके सब्र का प्याला भर चुका था, और इन नौजवानों का मंशा चाहे जो रहा हो उस आन्दोलन में जनता को पहली बार सामन्ती-शोषण और निरंकुश शासन के विरुद्ध प्रतिवाद करने का अवसर मिल गया। और इस प्रकार काश्मीर के उस शानदार राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म हुआ जिसने काश्मीरियों को अपनी आज़ादी और नया काश्मीर का निर्माण करने के लिए संगठित किया है, और अठारह वर्षों से उनका नेतृत्व किया है।

नौ



भविष्य की समस्याएँ



पूर्व के प्रकरणों में 'काश्मीर देश और उसकी संस्कृति' की एक संक्षिप्त और साधारण-सी विवेचनात्मक रूपरेखा दी गई है। केवल यत्र-तत्र ही कतिपय उन सांस्कृतिक समस्याओं की ओर इंगित किया गया है जिनके समाधान पर ही काश्मीर के गौरवमय भविष्य का निर्माण किया जा सकता है। ये समस्याएं जितनी बहुरूपी हैं, उनके समाधान भी उतने ही जटिल हैं, और बिना काश्मीर के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन किये उन समाधानों को कार्यान्वित भी नहीं किया जा सकता।

आधुनिक अर्थों में काश्मीर को किसी भी दृष्टि से उन्नत और विकसित देश नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः समूचे काश्मीर-राज्य की जनता जितनी ग़रीब, सतायी हुई और शोषित है, जितनी अशिक्षित और अज्ञान है, जिस प्रकार प्राचीन रूढ़ियों और रस्म-रिवाज़ों, अंधविश्वासों और धार्मिक भावनाओं में आकंठ डूबी हुई है, उससे तो केवल यही सिद्ध होता है कि काश्मीर न केवल एक अत्यन्त पिछड़ा हुआ देश है, बल्कि यहां के निवासी इतने कूपमण्डूक हैं कि उन तक नये ज्ञान-विज्ञान, नये उत्पादन के साधनों और नये विकसित जीवन की प्रकाश की किरणें अभी तक नहीं पहुँची हैं। इस पिछड़ेपन के लिए प्रकृति की अनुदारता भी कुछ कम उत्तरदायी नहीं है। काश्मीर देश में प्रकृति ने जिस उदारता से अपना वैभव बिखेरा है, जिस विलक्षण सजधज और बहुरंगी तड़क-भड़क के साथ वह यहां विलास करती है, उतनी ही अनुदारतापूर्वक उसने यहां के विभिन्न प्रदेशों को केवल बाह्य-जगत् से ही नहीं वरन् परस्पर भी एक-दूसरे से अलग कर रखा है। यहां के दुर्गम पर्वतीय मार्गों को पार करके काश्मीर के अदम्य और अपराजित मनुष्यों ने एक-दूसरे के निकट आने की चेष्टा की है, एक जाति ने दूसरी जाति के साथ भाषा

और नस्ल की विभिन्नताओं के बावजूद अपने आर्थिक जीवन की समस्याओं को परस्पर संबद्ध और निर्भर बनाने का अनथक प्रयास किया है; परन्तु फिर भी प्रकृति हिम-वर्षा करके इन मार्गों को प्रतिवर्ष लम्बे काल के लिए बन्द कर देती है, और इस देश की अनेक जातियां और घाटियां वर्ष में छः-सात महीनों के लिए प्रकृति के कारागार में बन्द हो जाती हैं। प्राचीन काल से ही प्रकृति के कठोर प्रकोपों के विरुद्ध अनपढ़ और अशिक्षित मनुष्य ने काश्मीर-राज्य की सीमाओं के भीतर अविराम जितना भीषण संघर्ष किया है उतना अन्यत्र किसी देश के निवासियों ने कदाचित् ही किया हो। परन्तु काश्मीरियों के लिए यह संघर्ष एक महान् और अनन्त अनुभव रहा है, जिसके कारण उनकी अन्तरचेतना कम-से-कम भारत की अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित, मानवीय, कला-प्रिय और पुष्ट बन गई है। प्रकृति की अनुदारता काश्मीर राज्य के निवासियों को विचलित नहीं करती, उनके साहस और आत्म-विश्वास को नहीं तोड़ती, उनके देश-प्रेम को आघात नहीं पहुंचाती, क्योंकि प्रकृति ने मुक्त हृदय से उन्हें अपने अपार वैभव का उत्तराधिकारी बनाया है। इसलिए काश्मीर के पिछड़ेपन का दायित्व प्रधानतः यहां की प्राकृतिक स्थिति पर नहीं है। इसका दायित्व यहां की सामन्ती व्यवस्था पर है जिसकी संकुचित सीमाओं के भीतर काश्मीर के निवासियों का जीवन सहस्रों वर्षों से शृंखलाबद्ध है। काश्मीर के इतिहास का संक्षिप्त परिचय इस पुस्तक में अन्यत्र दिया गया है। काश्मीर-राज्य के अन्य प्रदेशों का इतिहास इतना घटनापूर्ण, सुसंबद्ध और व्यवस्थित नहीं रहा है। परन्तु काश्मीर के तीन-चार हज़ार वर्षों के राजनीतिक इतिहास में भी केवल दो तीन स्थल ही गौरवपूर्ण हैं। ललितादित्य, अवन्तीवर्मन और सुलतान ज़ैनुलआब्दीन के अतिरिक्त काश्मीर के सैकड़ों शासकों में किसीका नाम गर्व के साथ नहीं लिया जा सकता। इन शासकों ने ही काश्मीर की जनता के हितों की ओर थोड़ा-बहुत ध्यान दिया, अन्यथा और सारे शासक अपनी क्षुद्रताओं और दरबार में निरंतर चलने वाले षड्यन्त्रों में ही फँसे रहे और निरीह जनता पर अनकहे ज़ुल्म ढाते रहे और उसका खून चूसते रहे। सन १५८७ ई० से, जब से काश्मीर विदेशियों का गुलाम हुआ, राज्य की ओर से जनता का शोषण और भी निर्ममतापूर्वक और तीव्रता से होता आया है। अतः चाहे काश्मीर स्वतंत्र रहा हो, चाहे विदेशियों की गुलामी में, प्रकृति को चुनौती देकर, उससे अविराम संघर्ष करके जीवन-यापन के साधन जुटाने वाले यहां के निवासी लगातार देशी और विदेशी शासकों द्वारा शोषण की चक्की में पिसते आये हैं, और इस शोषण और दमन ने उन्हें न केवल प्रकृति के अपार वैभव के नैसर्गिक उत्तरा-

धिकार से वंचित रखा है, वरन् उन्हें जाहिल, निर्धन और पिछड़ा भी बना दिया है। तात्पर्य यह कि सामन्ती व्यवस्था ने कभी भी काश्मीरी जनता को अपने विकास की, प्रकृति को विजित करके उसके वैभव का पूरा लाभ उठाने की, सुविधाएं नहीं प्रदान कीं, जिससे काश्मीरी आज अपनी प्रतिभा और जीवन संभावनाओं के बावजूद इतनी हीनावस्था में हैं।

सच तो यह है कि सामन्ती व्यवस्था काश्मीरी जनता की न कभी हित-चिन्तक हो सकती थी, और न उसे प्रकृति-विजय करके अपने लिए नये और समृद्ध जीवन का विकास करने की सुविधाएं ही दे सकती थी। इस कारण आज काश्मीरियों के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या अपने गले से हज़ारों वर्ष पुरानी सामन्ती व्यवस्था की तौक को तोड़ फेंकना है। इस तपस्या के प्रति काश्मीरी जनता आज पर्याप्त मात्रा में सचेत है। गत १८ वर्षों का काश्मीर का राष्ट्रीय आन्दोलन इस बात का साक्षी है कि काश्मीरी जनता सहस्रों वर्ष की अपरिवर्तनीय सामन्ती व्यवस्था से केवल उकता ही नहीं गई, बल्कि यह भी जान गई है कि जब तक यह व्यवस्था रहेगी, उसके जीवन-विकास के सारे मार्ग अवरुद्ध रहेंगे, और उसकी प्रतिभा कुंठित और पद-मर्दित पड़ी रहेगी। इसी कारण काश्मीर की राष्ट्रीय संस्था 'नेशनल कान्फ्रेन्स' ने जिस समय सन् १९४२ ई० में 'नये काश्मीर' का विधान तैयार किया और भावी व्यवस्था के सिद्धान्त और रूपरेखा स्थिर की, काश्मीर की जनता ने उसे मुक्त-हृदय से अपनाया।

काश्मीर की बहुमुखी सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान 'नये काश्मीर' के निर्माण पर निर्भर करते हैं, इस वक्तव्य को समझ लेना आवश्यक है। यह सच है कि 'नेशनल कान्फ्रेन्स' केवलमात्र मज़दूर-किसानों की वर्ग-संस्था नहीं है, और अन्य देशों की राष्ट्रीय संस्थाओं की ही तरह उसमें पूंजीपति वर्ग और मध्यवर्ग के पर्याप्त लोग सम्मिलित हैं, जिससे वे उसकी नीति पर यथेष्ट प्रभाव डालते हैं। परन्तु एक तो चूंकि काश्मीर में पूंजीवाद का विकास अभी अपने प्रारंभिक काल में ही है, और मध्यवर्ग भी बहुत विशाल और शक्तिशाली नहीं है, इस कारण यहां की राष्ट्रीय संस्था 'नेशनल कान्फ्रेन्स' में निम्न मध्यवर्ग के अधिक उदारचेता, प्रगतिशील लोगों का काफी ज़ोर है। दूसरे काश्मीर की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याएं इतनी बहुरूपी और जटिल हैं और काश्मीर-राज्य में बसने, वाली जातियां इतनी भिन्न हैं, कि 'राष्ट्रीय आज़ादी' का आन्दोलन समान रूप से सब जातियों और लोगों के लिए तभी कोई अर्थ रख सकता था जब उसके सामने ऐसे सामान्य सिद्धान्त और लक्ष्य होते जो सामान्यतः सबको स्वीकृत हो सकते।

फलतः 'नये काश्मीर' के मसविदे में ऐसे सामान्य सिद्धान्तों और लक्ष्यों का समावेश करना अनिवार्य हो गया था जो 'पूंजीवादी प्रजातन्त्र' की सीमाओं से वाहर के हैं। इस कारण 'नये काश्मीर' की अनेक धाराएं ऐसी हैं जिनको एक समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही कार्यान्वित किया जा सकता है। 'नेशनल कान्फ्रेन्स' जैसी मिली-जुली संस्था और उसके नेता किस सीमा तक अपनी स्थिति की असंगतियों से ऊपर उठकर 'नया काश्मीर' के सिद्धान्तों पर आरूढ़ रहेंगे और किस सीमा तक वे इस लक्ष्य को प्राप्त करने में कटिबद्ध होंगे, इसकी साक्षी तो इतिहास देगा; परन्तु इतना निश्चित है कि काश्मीरी जनता अपनी प्रतिभा का स्वाभाविक विकास और अपने आर्थिक जीवन की उन्नति 'नये काश्मीर' का निर्माण करके ही कर सकती है।

उदाहरण के लिए, काश्मीर-राज्य में बसने वाली जातियों और यहां बोली जाने वाली भाषाओं की समस्या को लीजिए। काश्मीर में चाम्पा, लद्दाखी, बल्ती, दरद, पंजाबी, चिवाली, पहाड़ी, डोगरा और काश्मीरी आदि अनेक जातियां बसती हैं। पुराने इतिहास की परम्पराओं और सांस्कृतिक-विकास की दृष्टि से केवल काश्मीरी और डोगरा जातियों को ही एक सीमा तक विकसित और उन्नत जातियां कह सकते हैं। अन्य जातियां बहुत पिछड़ी हुई हैं। कुछ तो अभी तक क़बाइली-जीवन ही व्यतीत करती हैं और कुछ ऐसी हैं जिनमें प्रागैतिहासिक साम्यवाद की अनेक परम्पराएं प्रचलित हैं। 'जातियों का कारागार' प्रकरण में पाठकों को इन जातियों का विस्तृत परिचय दिया जा चुका है। काश्मीर में जातियों की समस्या एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या है। सामन्ती व्यवस्था से मुक्ति पाने मात्र से इस समस्या का समाधान हो जाना असंभव है, क्योंकि यदि महाराजा और सामन्तवर्ग को हटाकर उनका स्थान एक पूंजीवादी व्यवस्था ले ले तो निश्चय ही काश्मीरी और डोगरा पूंजीपति मिलकर पिछड़ी जातियों का शोषण करेंगे और पिछड़ी और अनुन्नत जातियां अपने जातीय-विकास की सुविधाएं कभी न पा सकेंगी। जातीय समस्या का सही समाधान तो यही हो सकता है कि काश्मीर-राज्य में बसने वाली समस्त जातियां, चाहे वे छोटी हों या बड़ी, उन्नत हों या अनुन्नत सिद्धान्ततः और व्यावहारिक रूप से समानाधिकार प्राप्त करें। पूंजीवादी प्रजातन्त्र में यह असंभव है। जिस जाति का पूँजीपति-वर्ग अधिक शक्तिशाली हो जाता है वह कमज़ोर और अनुन्नत जातियों का शोषण करता है—यह पूंजीवाद का नियम है। पूंजीवादी प्रजातन्त्र के विधान में 'समानाधिकार' का ढोल पीटने वाली जो धाराएं होती हैं, वे पुस्तकों में पढ़ने के लिए ही होती हैं। इसी प्रकार काश्मीर-राज्य में 'काश्मीरी'

भाषा ही एक विकसित भाषा है, जिसमें अपना, उच्चकोटि का थोड़ा-सा साहित्य भी है। पूंजीवादी प्रजातन्त्र में काश्मीरी ही यहां की राष्ट्र-भाषा बनेगी और इसका परिणाम यह होगा कि सुदूर लद्दाख और गिलगित में भी काश्मीरी ही पढ़ाई जायगी, और छोटी जातियों की अनुन्नत भाषाएं उपेक्षित होंगी और उनका विकास रुक जायगा। इस समस्या का यदि कोई सही समाधान हो सकता है तो यही कि राज्य में बोली जाने वाली भाषाएं छोटी हों या बड़ी, उन्नत हों या अनुन्नत, उनमें साहित्य हो या न हो, उन सबको समान रूप से विकसित करने की चेष्टा की जाय, ताकि प्रत्येक जाति अपनी ही भाषा में संसार के ज्ञान-विज्ञान से परिचित हो सके और अपनी ही भाषा में साहित्य और दर्शन की रचना कर सके। इससे किसी भी जाति की मौलिक प्रतिभा के कुंठित हो जाने का भय नहीं होगा। पूंजीवादी व्यवस्था में यह असंभव है कि पिछड़ी और अविकसित भाषाओं को विकसित किया जाय। इस प्रकार विभिन्न जातियों को आत्म-निर्णय का अधिकार देकर उनके पूर्ण विकास की संभावनाओं को सुरक्षित करना और विभिन्न भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा का माध्यम बनाना आदि ऐसी बातें हैं जो किसी भी पूंजीवादी देश में स्वीकार नहीं हुई हैं, क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था में ऐसी शोषण-रहित नीति का प्रचलन असंभव है। काश्मीर-राज्य में जातियों और भाषाओं की समस्या राजनीतिक-आर्थिक के साथ-साथ सांस्कृतिक भी है, क्योंकि इस राज्य में बसने वाली समस्त जातियों के सांस्कृतिक विकास का प्रश्न इस समस्या के सही समाधान पर ही निर्भर करता है। सामन्ती व्यवस्था को हटाकर पूंजीवादी समाज की स्थापना करने से इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता, और इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने पर भी काश्मीर की प्रत्येक जाति स्वतंत्र नहीं हो सकती। संभवतः परिस्थिति की अनिवार्यता ने ही नेशनल कान्फ्रेन्स को इस समस्या का समाधान पूंजीवाद की संकुचित सीमाओं से बाहर निकलकर खोजने के लिए बाध्य किया होगा। इसी कारण 'नया काश्मीर' के मसविदे में राज्य में बसने वाली प्रत्येक जाति के लिए अपनी भाषा और संस्कृति के विकास करने के अधिकार की घोषणा की गई है। वस्तुतः यही एक सही जनवादी समाधान है। इस अधिकार की गारण्टी के लिए 'नया काश्मीर' के विधान में एक जातियों की असेम्बली की भी परिकल्पना की जानी चाहिए थी—ऐसी असेम्बली की जिसमें काश्मीर-राज्य में बसने वाली प्रत्येक जाति के प्रतिनिधि बराबर संख्या में चुनकर भेजे जाते। सोवियत् यूनियन में इस प्रकार की जातियों की असेम्बली यूनियन में बसनेवाली समस्त जातियों के अधिकारों की रक्षा करती है और पिछड़ी और अनुन्नत जातियों की उन्नति के

साधन जुटाती है। परन्तु 'नये काश्मीर' के विधान में ऐसी 'जातियों की असेम्बली' का आयोजन नहीं किया गया, जिससे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि विभिन्न भाषाओं और जातियों की व्यवहारतः सुरक्षा कैसे की जायगी और जो अपेक्षाकृत पिछड़ी जातियाँ हैं उनके विकास की सुविधाएं कैसे जुटाई जायंगी। ऐसी मौलिक महत्व की बातें नेताओं की उदार चेतना अथवा किसी वैधानिक कमेटी या एकेडमी के ऊपर छोड़ देना, जैसा कि 'नये काश्मीर' के विधान में किया गया है, पर्याप्त गारण्टी नहीं है।

उपरोक्त उदाहरण से अभिप्राय केवल इतना है कि पाठक इस बात को भलीभाँति समझ लें कि काश्मीर की राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक समस्याओं का सही समाधान सामन्ती या पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर रहकर संभव नहीं है। इन समस्याओं का पूर्ण और सही समाधान तभी संभव है जब यहां स्वतंत्रता प्राप्त करके 'नये काश्मीर' का निर्माण किया जाय। इसलिए सामन्ती, गुलामी और पूंजीवादी समाज के बढ़ते हुए प्रभाव से मुक्ति पाकर 'नये काश्मीर' का निर्माण करना ही काश्मीर की सबसे प्रधान समस्या है। यह भविष्य की नहीं, वर्तमान की समस्या है। भविष्य के समस्त प्रश्न इसी समस्या के अनुकूल समाधान पर निर्भर करते हैं।

परन्तु इस वर्तमान समस्या का अनुकूल समाधान होने के मार्ग में अनेक दुर्गम कठिनाइयां उत्पन्न हो गई हैं। लगभग १८ मास पूर्व (२२ अक्तूबर १९४७ ई० को) पाकिस्तान की सहायता से और अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों के इशारे से क़बाइलियों ने काश्मीर पर अचानक आक्रमण किया। यह आक्रमण काश्मीर की उदार और प्रगतिशील क़ौमी तहरीक (राष्ट्रीय आन्दोलन) पर था जो काश्मीर में 'काश्मीर छोड़ दो' के आन्दोलन के समय से आज़ादी और 'नया काश्मीर' के लिए क्रान्तिकारी ढंग से संघर्ष कर रही थी। साम्राज्यवादियों के लिए काश्मीर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रदेश है। यहां पर अपने फ़ौजी अड्डे बनाकर अंग्रेज़ और अमरीकी साम्राज्यवादी सोवियत् यूनियन की छाती पर बन्दूक साध सकते हैं, चीन की ओर से बढ़ते आते हुए लाल-क्रान्ति के सैलाब को भारत की सीमा में प्रवेश करने से रोक सकते हैं, और हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को आपस में निरंतर लड़ाकर स्वयं यहां बैठकर बन्दर-न्याय चला सकते हैं। इसलिए काश्मीर का महत्व साम्राजियों के लिए आत्यन्तिक है। परन्तु एक शक्तिशाली और प्रगतिशील राष्ट्रीय आन्दोलन साम्राजियों की कूटनीतियों के लिए अपने देश को अड्डा नहीं बनने दे सकता—साम्राज्यी यह भी समझते थे। इस कारण इस आन्दोलन को तोड़ने

के लिए साम्राज्यवादियों ने हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। क़बाइली हमला इस हस्तक्षेप का पहला रक्त-रंजित प्रमाण था। उस समय से अब तक साम्राज्यवादी लगातार किसी-न-किसी रूप में हस्तक्षेप करते आये हैं और भारतीय सरकार की साम्राज्य-पिट्ठू नीति के फलस्वरूप आज संयुक्त राष्ट्रों के कमीशन की शक्ल में साम्राज्यवादी काश्मीर के भाग्य निर्णायक बन गये हैं।

पाकिस्तानी आक्रमण से साम्राजियों ने इतनी सफलता अवश्य प्राप्त की कि काश्मीर-राज्य के वे सुदूर सीमान्त प्रदेश, जहां पर राष्ट्रीय आन्दोलन कमज़ोर था, पाकिस्तान के आधिपत्य में आ गये। इससे उन प्रदेशों में (गिलगित आदि) साम्राज्यवादी बेरोक-टोक अपने हवाई अड्डे बना सकेंगे। परन्तु सशस्त्र आक्रमण कराके भी साम्राज्यवादी काश्मीर के प्रगतिशील राष्ट्रीय आन्दोलन को तोड़कर काश्मीर में साम्प्रदायिक फूट डालने के उद्देश्य में असफल रहे। साम्राज्यवादी जानते हैं कि गिलगित और लद्दाख आदि में वे निश्चिन्त होकर अपने हवाई अड्डे तभी बना सकते हैं जब काश्मीर साम्राजियों की फ़ौज की छावनी बने और यहां का राष्ट्रीय आन्दोलन अत्यन्त निर्बल और छिन्न-भिन्न हो। आक्रमण के द्वारा वे इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करा सके। अतः संयुक्त राष्ट्रों की असेम्बली में उन्होंने जनमत (Plebiscite) लेने का प्रस्ताव स्वीकृत कराया। भारत-सरकार ने, जो प्रारंभ से ही साम्राजियों के साथ समझौते की नीति पर चलती आई है, इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। फलतः जो बात साम्राज्यी हिंसा और बल से नहीं कर पाये, वह अब कूटनीति के द्वारा करेंगे, अर्थात् काश्मीर में यू० एन० ओ० द्वारा नियुक्त शासक साम्प्रदायिक फूट डालने और काश्मीर का बँटवारा कराने का प्रयत्न करेगा, और आज़ादी और 'नया काश्मीर' के प्रश्न खटाई में पड़ जायंगे। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आन्दोलन तो छिन्न-भिन्न होगा ही, काश्मीर की सांस्कृतिक और सामाजिक उन्नति भी रुक जायगी, और काश्मीर सोवियत् रूस और चीन के विरुद्ध साम्राज्यवादी षड्यन्त्रों का अड्डा बन जायगा।

इसी कारण काश्मीर का राष्ट्रीय आन्दोलन आज अपने को और अपने देश को एक ज़बर्दस्त अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र के जाल में फँसा हुआ पा रहा है, और काश्मीर के अधिक अनुभवी और दूरदर्शी प्रगतिशील नेताओं की समझ में यह बात आती जा रही है कि यू० एन० ओ० का फ़ैसला काश्मीर की आज़ादी पर एक नया और अधिक ख़तरनाक हमला है। अतः जिस प्रकार उन्होंने पाकिस्तानी आक्रमण का मुक़ाबला किया, वे अब अंग्रेज़ और अमरीकन साम्राजियों के इस नये और प्रच्छन्न हमले का मुक़ाबला करने का विचार कर रहे हैं और यू० एन० ओ०

द्वारा नियुक्त शासक, और काश्मीर के बँटवारे के संबंध में किसी भी प्रकार के समझौते का विरोध करके वे पुनः आज़ादी और 'नया काश्मीर' के लिए अपना संघर्ष जारी रखने का निश्चय पक्का कर रहे हैं। अतः काश्मीर की वर्तमान समस्याएं अत्यन्त जटिल हैं और उनके सही हल के ऊपर ही काश्मीर का भविष्य निर्भर करता है।

यदि काश्मीर की जनता फूट और बँटवारे से, महाराजा, भारतीय और पाकिस्तानी पूंजीपतियों और अंग्रेज़ और अमरीकी साम्राजियों की मिली-जुली साज़िशों के जाल में फँसने से अपने को बचा सका और शख्सी राज की ग़ुलामी से अपने को मुक्त करके 'नये काश्मीर' के निर्माण में अपने को लगा सका तो उस समय काश्मीरियों को अपने भविष्य की सांस्कृतिक समस्याओं से दो-चार होना पड़ेगा, और मेरा विश्वास है कि काश्मीरी उन समस्याओं का सही समाधान ढूंढ निकालने में अपने को समर्थ पायेंगे।

इसमें सन्देह नहीं कि हज़ारों वर्षों के अपरिवर्तनशील जीवन ने और सदियों की ग़ुलामी ने काश्मीरियों को अत्यन्त ग़रीब और मज़लूम बना दिया है, परन्तु शोषण की चक्की में निरंतर पिसकर भी उन्होंने ऐसे साहित्य, दर्शन और काव्य, कला और स्थापत्य का निर्माण किया है जिस पर किसी भी जाति को गर्व हो सकता है। भविष्य की सबसे बड़ी सांस्कृतिक समस्या यह है कि काश्मीर की मृतप्राय कलाओं को केवल नया प्रोत्साहन ही न दिया जाय, बल्कि साहित्य और कला प्रत्येक काश्मीरी के जीवन को सचेतन, समृद्ध और मानवीय बनायें। इसके लिए यह आवश्यक है कि काश्मीरी जाति के अतिरिक्त और जो दूसरी छोटी-बड़ी जातियां काश्मीर में बसती हैं उन सबको सांस्कृतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर किया जाय। ऐसी दशा में अनेक जातियों की भाषाओं की लिपियां तैयार करनी होंगी, उनके लिए मुद्रण और प्रकाशन की सुविधाएं जुटानी होंगी, उन भाषाओं के व्याकरण, उनकी पाठ्य-पुस्तकें आदि तैयार करनी पड़ेंगी, और उनके शब्द-कोश और विश्व-कोश तैयार करके उनमें विश्व-साहित्य के अनुपम ग्रन्थों का अनुवाद कराना पड़ेगा। किसी भी अनुन्नत भाषा में इतना बड़ा साहित्यिक आयोजन केवल विधान और मसविदों के पास करने से ही नहीं हो सकता और न इस कार्य को दो-चार व्यक्ति ही उठा सकते हैं। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि प्रत्येक भाषा के सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के लिए राज्य की ओर से विद्वानों और भाषा-साहित्य-विशारदों की कमेटियां और संस्थाएं बनाई जायं। इतना ही नहीं, राज्य की ओर से राज्य की समस्त जातियों के सांस्कृतिक जीवन के सम्यक् विकास के लिए एक

विस्तृत, सुसंबद्ध योजना बनाने की आवश्यकता भी पड़ेगी।

इसी प्रकार प्रत्येक जाति के लोक-गीतों, लोक-नृत्यों और लोक-संगीत का संकलन और उपयोग करना होगा। इसके अतिरिक्त कोई ऐसी व्यापक योजना बनानी पड़ेगी जिसके द्वारा विभिन्न जातियों की समस्त दस्तकारियों और कलाओं के विकास का प्रबन्ध किया जा सके। आजकल नेशनल कान्फ्रेन्स की कौमी हकूमत ने बम्बई और दिल्ली आदि स्थानों पर काश्मीरी दस्तकारी की चीजों के प्रदर्शन और बिक्री के लिए 'ट्रेड एम्पोरियम' खोले हैं, परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं होगा। जब तक काश्मीर-राज्य की सभी जातियों की दस्तकारियों और कला की चीजों के निर्यात और बिक्री की आवश्यक सुविधाएं नहीं जुटाई जायगी उस समय तक उनका विकास अधिक नहीं किया जा सकेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर और काश्मीर-राज्य के सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की समस्या एक अत्यन्त प्रगतिशील और उदार दृष्टिकोण से व्यापक योजना बनाकर उसके अनुसार कार्य करने की समस्या है। नेशनल कांफ्रेंस की वर्तमान हकूमत ने अभी तक काश्मीर राज्य की सांस्कृतिक विकास की समस्याओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। काश्मीर में 'कौमी कल्चरल मुहाज़' की स्थापना करके नेशनल कांफ्रेंस ने इस दिशा में केवल पहला क़दम ही उठाया है। कौमी कल्चरल मुहाज़ ने पिछले डेढ़ बरस में काश्मीर की संस्कृति के उत्थान के लिए आशातीत कार्य किया है और इसमें सन्देह नहीं कि जब तक काश्मीर बाह्य और आन्तरिक हमलों से अपना बचाव कर रहा है, नेशनल कांफ्रेंस और उसकी हकूमत अपना पूरा ध्यान सांस्कृतिक उत्थान की ओर नहीं दे सकती। परन्तु इतना अवश्य किया जा सकता है कि 'कौमी कल्चरल मुहाज़' जैसी संस्थाएँ काश्मीर-राज्य में बसने वाली प्रत्येक जाति के लिए स्थापित की जायं, और आज की अनिश्चित परिस्थिति में जितना-कुछ संभव है उतना प्रत्येक जाति के सांस्कृतिक उत्थान के लिए तुरंत किया जाय।

यदि वर्तमान के तूफ़ानों के बीच से काश्मीर के विचारशील नेता और काश्मीरी जनता अपने भाग्य की नाव को सफलतापूर्वक खेकर आज़ादी के तट पर ले जा सके तो काश्मीर में एक नये समाजवादी समाज के निर्माण को कोई शक्ति भी रोक न सकेगी, और उस समय काश्मीर का सांस्कृतिक उत्थान ऐसी अभूतपूर्व तीव्रता से होगा कि लोग आश्चर्य-चकित रह जायंगे, क्योंकि काश्मीर और इस राज्य में बसने वाली जातियों में सौंदर्य और कला के प्रति एक निसर्ग आकर्षण है और उनकी प्रतिभा निष्प्रयास अनुपम कलाकृतियों का निर्माण कर डालती है।

अतः प्रत्येक भारतीय और पाकिस्तानी जनवादी विचारक का कर्तव्य है कि वह काश्मीर की जनता के आज़ादी के संघर्ष में अपना पूर्ण सहयोग दें ताकि काश्मीर वास्तव में नया काश्मीर बन सके और काश्मीरी एक नये प्रकार के संस्कृत, कला प्रवण मानव का विकास कर सकें।

इति श्री

विस्तृत, सुसंबद्ध योजना बनाने की आव
इसी प्रकार प्रत्येक जाति के ल
संकलन और उपयोग करना होगा। इस
पड़ेगी जिसके द्वारा विभिन्न जातियों की
का प्रबन्ध किया जा सके। आज
बम्बई और दिल्ली आदि स्थानों पर
बिक्री के लिए 'ट्रेड एम्पोरियम' खो
तक काश्मीर-राज्य की सभी जाति
निर्यात और बिक्री की आवश्यक सु
विकास अधिक नहीं किया जा सके

इस प्रकार हम देखते हैं
पुनर्निर्माण की समस्या एक अ
योजना बनाकर उसके अनुसार
वर्तमान हकूमत ने अभी तक क
की ओर विशेष ध्यान नहीं f
स्थापना करके नेशनल कांफ्रेंस
कौमी कल्चरल मुहाज़ ने पिछ
लिए आशातीत कार्य किया है
आन्तरिक हमलों से अपना ब
अपना पूरा ध्यान सांस्कृतिव
किया जा सकता है कि '
बसने वाली प्रत्येक जाति
परिस्थिति में जितना-कुछ
लिए तुरंत किया जाय।

यदि वर्तमान के
काश्मीरी जनता अपने
ले जा सके तो काश्मीर
रोक न सकेगी, और उस
तीव्रता से होगा कि लोग
राज्य में बसने वाली जा
है और उनकी प्रतिभा

अत: प्रत्येक भारतीय और पाकिस्तानी जनवादी विचारक का कर्तव्य है कि वह काश्मीर की जनता के आज़ादी के संघर्ष में अपना पूर्ण सहयोग दें ताकि काश्मीर वास्तव में नया काश्मीर बन सके और काश्मीरी एक नये प्रकार के संस्कृत, कला एवम् मानव का विकास कर सकें।

इति श्री